श्री भागवत-दर्शन
भागवती कथा
२२ वाँ
खण्ड
लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

To. Bishnu Das Malu.
Pin- 742133.
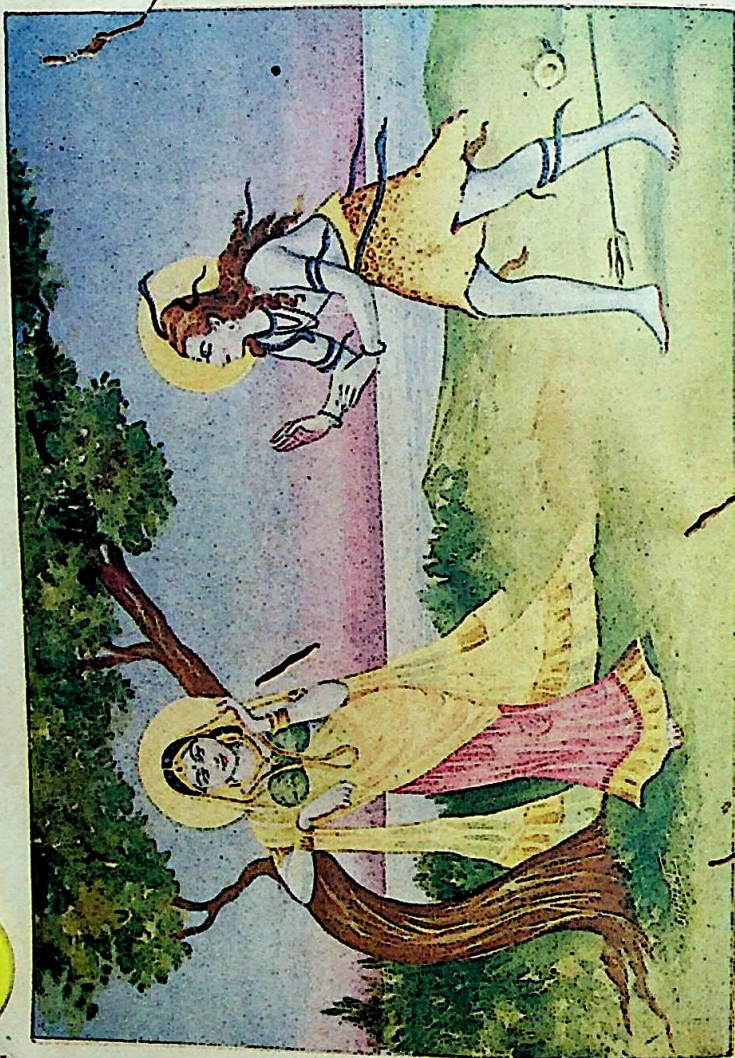
मोहिनी रूप में भगवान्

श्रीहरिः

श्रीमद्भागवत-दर्शन—

भागवती-कथा

(बाईसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:o:—

लेखक

श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:o:—

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) प्रयाग

—:※:—

तृतीय संस्करण १००० प्रति] मार्गशीर्ष—२०२२ विक्र० [मू० १-२५ पै०

विषय-सूची

अ० सं०	विषय		पृष्ठांक
	व्यवस्था सम्बन्धी बातें (भूमिका)	...	
५१५	मथानी के लिये मन्दराचल	...	१५
५१६	उल्टों से उल्टा व्यवहार	...	२२
५१७	कच्छपावतार	....	२८
५१८	श्रीहरि द्वारा समुद्र मन्थन	...	३४
५१९	समुद्र मथने पर सर्वप्रथम विष	....	४०
५२०	प्रजापतियों द्वारा महादेव जी की स्तुति	....	४७
५२१	परोपकार का महत्व	...	५३
५२२	विश्वनाथ का विषपान	...	६०
५२३	परोपकार प्रभु की परमाराधना	...	६८
५२४	क्षीर सागर से रत्नों की उत्पत्ति	...	७५
५२५	समुद्र से लक्ष्मी जी की उत्पत्ति	....	८३
५२६	वरवर्णिनी लक्ष्मीजी	...	९१
५२७	श्री लक्ष्मी जी का नारायणवरण	....	१०२
५२८	धन्वन्तरि अवतार तथा अमृतोत्पति	....	१०९
५२९	अमृत के लिये असुरों में परस्पर कलह	...	११४
५३०	मोहिनी अवतार	...	१२०
५३१	अमृत बांटने वाली मोहिनी	....	१३१
५३२	सुरों को अमृत पिलाकर मोहिनी को मोहन बन जाना	...	१३९
५३३	श्रीहरि के कपट व्यवहार का कारण	...	१४५
५३४	विषयासक्ति में मृत्यु है	...	१५१

५३५—देवता और असुरों का युद्ध ... १६३
५३६—देव और दैत्यों का द्वन्द युद्ध ... १७०
५३७—इन्द्र के साथ बलि का माया युद्ध ... १७५
५३८—आसुरी माया का नाश और असुरों का विनाश १८०
५३९—देवेन्द्र द्वारा नमुचि वध १८६
५४०—दैवासुर संग्राम की समाप्ति ... १९५
५४१—श्री शिव को मोहिनी दर्शन की लालसा २००
५४२—शिव का मोहिनी दर्शन ... २१०
५४३—महादेव और मोहिनी सम्मिलन ... २१९

चित्र-सूची

१. मोहिनी भगवान् और शिव (रंगीन)
२. मन्दराचल पर्वत उठाने के लिये भगवान् का प्रकट होना १७
३. वासुकी की पूंछ पकड़कर भगवान् का समुद्र मन्थन ३७
४. शिवजी का विष-पान ६२
५. समुद्र से लक्ष्मीजी की उत्पत्ति ८८
६. श्रीहरि को लक्ष्मी जी का हार पहनाना १०६
७. मोहिनी रूप १३२
८. शिवका मोहिनी दर्शन २१६

॥ श्रीहरिः ॥

"कथा" की भूमिका

तव कथामृतं तप्तजीवनम्,
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततम्,
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३१ अ० ९ श्लो०)

छप्पय

होत हियो हरहरो इष्टके सुनि गुन गायन।
प्यारे की प्रियकथा कान की सुखद रसायन॥
पापनाशिनी परम सुखद वर कवि जन कीर्तित।
अमृत मयी सुखमयी रम्य मङ्गलमय विस्तृत॥
जे गावत अति सुख लहत, ते हरिभक्त अनन्य हैं।
सुनत होंहि हर्षित हृदय जिनको ते नर धन्य हैं॥

भगवद् भक्तों के चरणों में मेरा बार बार प्रणाम है, जो भगवान्

---

*गोपिकायें गीत गाती हुई कह रही हैं—"तुम्हारी अमृत मयी कथायें सन्तप्त जीवों को जीवन दान देने वाली हैं, कवि जनो द्वारा कीर्तित हैं, समस्त पापों को नाश करने वाली हैं, सुनने में अत्यन्त ही मधुर हैं तथासुख शान्ति प्रदयिनी हैं उन कथाओं को जो भूलोक में कहते हैं, प्रचार करते हैं, समझो संसार में वे ही सबसे श्रेष्ठ दान देने वाले हैं।"

की मधुमयी, आनन्दमयी कथा के रसिक हैं। संसार में सब कुछ सुलभ है किन्तु कृष्ण कथा दुर्लभ है। पहली बातें तो छोड़ दीजिये वे बातें तो हमने पुस्तकों में पढ़ी ही है। किन्तु जो बात मैंने अपनी आँखों से देखी है, उसे स्मरण करके रोमाञ्च होता है। ब्रज में जन्म लेने के कारण, शिक्षा दीक्षा ब्रज में ही होने के कारण उन संस्कारों की छाप यत्किंचित शेष है। बहुत छोटी अवस्था में जब लघु कौमुदी लिये मथुरा वृन्दावन और गोकुल की गलियों में घूमता था, तब प्रेम में मदमाते कृष्ण-कथा के रसिक ऐसे भक्तों के दर्शन होते थे, अब ब्रज में भी उनके दर्शन दुर्लभ हो गये हैं धर्म की बात है, यह कृष्ण कथा एक प्रकार का नशा है, सबको नहीं होता। भाग्यशालियों को ही होता है। कृष्ण कथा बिना रहा ही न जाय, हृदय में हिलोरें उठतीं रहें, कानों को रोग हो जाय, ऐसे भक्तों के दर्शनों से जीव कृतार्थ हो जाता है। ऐसे कथा प्रेमी अनन्य रसिकों के लिये संसार रहता ही नहीं। उनके कर्ण कुहरों में कोई ऐसा यन्त्र लग जाता है, कि उनमें पर निंदा परचर्या प्रवेश करती ही नहीं जैसे मधुलोलुप भ्रमर मधुयुक्त सुमनों की ही ओर जाता है, वैसे ही उनके कृष्ण कथा लोलुप कान कृष्ण कथा के अतिरिक्त कुछ सुनते ही नहीं उसमें उन्हें क्या सुख मिलता है वे ही जानें।

बात यह है, कि सब का आहार उसकी प्रकृति के अनुरूप होता है। जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसे उसी वस्तु में अधिक आनन्द आता है। रुचि वैचित्र्य का ही नाम तो संसार है। सती स्त्री की अपने पति से बातें करने में, उनके दर्शन करने में, उनकी कीर्ति सुनने में कितना सुख होता है। इसके विपरीत असती स्त्री रात दिन परपुरुष की चिन्ता में ही मग्न

रहता है। पति के निकट रहने पर भी उसे पति की कोई बात अच्छी नहीं लगती। अहर्निशि जार के ही सम्बन्ध की बात सोचती रहती है, उसे उसी का व्यसन लग गया है, उसे उसी में सुखानुभूति होती है। विष के कीड़ा को विष ही प्रिय है, है, विष्ठा के कीड़े को उससे पृथक कर दो तो वह मर जायगा। मिष्ठान्न का कीड़ा मिष्ठान्न खाकर ही जीवित रहता है।

संसार में सभी सहृदय पुरुषों को कथा, प्रिय है। जिनमें विचार करने की बुद्धि है जिनमें श्रवण करने की शक्ति है वे बिना कथा सुनें रह नहीं सकते। अन्तर इतना ही है, कि सब अपने अपने प्रिय की कथा सुनना चाहते हैं। जो कृपण हैं, वह धन से अत्यन्त प्यार करता है, उसे आप कोई धन प्राप्ति की कथा सुनाओ सब कुछ छोड़कर रात्रि रात्रि जागकर सुनेगा और प्राणों का पण लगा कर उसमें प्रवृत्त होगा। पैसे के पीछे प्राणों को भी होम देगा। इसी प्रकार जो कामी जार पुरुष होते हैं, उनका किसी परस्त्री से प्रेम हो जाता है, तो उसके सम्बन्ध की एक बात सुनने को समुत्सुक रहते हैं। उनके पीछे कुटुम्ब, परिवार, धन, वैभव राज्यपाट सभी का परित्याग कर देते हैं।

बहुत से प्रेमियों को हमने देखा है, वे अपने प्रेमियों के पत्र पाने के लिये कितने लालायित रहते हैं। बार बार पत्रालय का चक्कर लगाते हैं। कुछ भी करते रहें दृष्टि उनकी डाकिया के आने की राह पर ही लगी रहती है। अपने प्यारे का सन्देश सुनने के लिये हृदय में कैसी कुलबुली मची रहती है, यह कथन की वस्तु नहीं अनुभूति की है और उसका थोड़ा बहुत अनुभव इन पंक्तियों के पढ़ने वाले प्रत्येक पाठक पाठिकाओं

को हुआ होगा, तनिक देर पढ़ना बन्द करके सोचें ऐसी उत्सुकता उन्हें कब हुई थी और वह कितने दिन रही।

बात यह है, कि यह प्राणी प्रेम का भूखा है प्रेम के बिना भटक रहा है, प्रेमी की बात सुनना चाहता है, इसकी समस्त उत्सुकता प्रेमी के लिये है। पाँच इन्द्रियाँ प्रेम के विविध विषयों का अपने द्वारा उपभोग करना चाहती है। आँखें प्रेमी को देखने के लिये लालायित रहती हैं, स्पर्शेन्द्रिय प्रिय के स्पर्श को, घ्राणेन्द्रिय सूँघने को, रसना रस लेने को और कान प्यारे की बातें सुनने को लालायित रहते हैं इन सब में श्रोत्रइन्द्रियको शास्त्रकारों ने प्रधान बताया है। इसीलिये तो ज्ञान मार्ग में भक्ति मार्ग में तथा कर्म मार्ग में "श्रवण, का बड़ा महत्व बताया है। भक्ति का प्रथम अंग श्रवण है। श्रवण के पश्चात् मनन और तब निदिध्यासन होता है। श्रवण वहीं होता है जहाँ उस विषय के ज्ञाता हैं। इसलिये भक्ति का प्रथम अंग है भक्तों का संग और तदनंतर है भगवत कथा श्रवण में रति। जिनको कथा सुनने का व्यसन लग जाता है, उन बड़भागियों का चित्त निरन्तर कृष्ण कथा में ही मग्न रहता है। ऐसे बड़भागियों से कैसे भी सम्बन्ध हो जाय, यह बड़े सौभाग्य की बात है। इस अर्थ में मैं अपने को बड़ा सौभाग्य शाली समझता हूँ भागवती कथा की कृपा से मेरा संसर्ग भक्तों से हो गया। मेरे पास नित्य ही बहुत से भक्तों के ऐसे पत्र आते हैं जिन पत्रों को पढ़कर मुझे बड़ी स्फूर्ति मिलती है।

अभी दो तीन दिन की बात है, अलवर से एक देवी जी का पत्र आया। उसमें वे लिखती हैं—"आप एक्कीसवें बाइसवें खण्डों को अति शीघ्र भेजिये देखिये नृसिंह भगवान् कुपित हुए बैठे घुरुं घुरुं कर रहे हैं।" पहिले तो मेरी समझ में

ही यह बात नहीं आई कि घुर्रे घुर्रे से क्या सम्बन्ध है। मुझे स्मरण तो रहता नहीं किस खण्ड में क्या छपा। मसाल दिखाने वाला दूसरों को तो प्रकाश प्रदान करता है, स्वयं अंधेरे में रहता है। जब मैंने बीसवें खण्ड को खोला तब पता चला उसमें नृसिंह भगवान् की अधूरी कथा रह गई है। सिंहासनासीन नृसिंह प्रभु क्रुद्ध हुए बैठे हैं। ऐसे एक नहीं अनेक पत्र आते हैं, उनमें वे इतनी कड़ी कड़ी बातें कहते हैं, ऐसी ऐसी हमारी भर्त्सना करते हैं, कि किसी अन्य विषय को लेकर वे इतनी कड़ी बातें कहते तो कम से कम मुझे तो क्रोध अवश्य ही आ जाता, किन्तु जैसे ससुराल की गालियों को सुनकर सुख होता है, वैसे ही उनकी कड़ी कड़ी बातों को सुनकर आन्तरिक आह्लाद होता है, देखो, प्रेम की कैसी कुटिल गति है प्रेम का जिससे भी सम्बन्ध हो जाता है, वही मधुर हो जाता है, जो भाई हमें बुरा भला कहते हैं, वे कथा प्रेम के ही कारण तो कहते हैं। "तीन महीने हो गये, आपने आगे के खण्ड नहीं भेजे। पुस्तक आते ही दो दिन में पढ़ लेते हैं, आगे की कथा पढ़ने की बड़ी उत्सुकता हो रही है। आप बड़े सुस्त हैं, हमारी विवशता पर आपको दया नहीं आती। जब आप प्रबन्ध कर ही नहीं सकते थे, तो ऐसे काम को आरम्भ ही क्यों किया ?" इन बातों से उन भाई बहिनों की कृष्ण कथा उत्कण्ठा उत्सुकता और रति का अनुभव होता है। मुझे उनके सौभाग्य पर ईर्ष्या होती है डाह होती है। हाय! मेरी कृष्ण कथा के प्रति इतनी अनुरक्ति नहीं मुझे कृष्ण कथा के लिये इतनी चटपटी नहीं। यन्त्रकी भाँति लिखता जाता हूँ,। यह भी याद नहीं रहता क्या लिखा है। ये लोग धन्य हैं जो कथा को इतने चाव से पढ़ते हैं।

'भगवती कथा', में कोई नई बात हो, सो भी बात नहीं। नई लावेंगे कहाँ—"सम्पूर्ण ज्ञान को तो व्यासजी भगवान् प्रथम ही उच्छिष्ट कर गये हैं। उन्हीं में से कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लेकर जोड़ देना है। किन्तु प्रेमी पाठक तो प्रेम के आवेश में इधर ध्यान ही नहीं देते। वे तो इन कथाओं को नित्य नई ही मानते हैं। बहुत से कहते हैं—"जब तक तुम्हारे अगले खण्ड नहीं आते हम पिछलों को ही फिर फिर पढ़ते रहते हैं।" "ऐसा क्यों करते हो जी?" एक बार पढ़ी बात को फिर फिर पढ़ने से लाभ क्या?" अब लाभ की बात तो पढ़ने वाले ही जानेंगे। व्यास भगवान् को तो इसके लिये दूसरा दृष्टान्त ही नहीं मिला उन्हीं ने तो महाराज परीक्षित् के प्रश्न करने पर यही कहा—"जिन्होंने अपने मन वाणी और कान भगवान् की कथा में ही लगा दिये हैं, उन सारग्राही भक्त-जनों का यह स्वभाव ही होता है, कि उन्हें श्री अच्युत की कथायें क्षण क्षण में नवीन ही प्रतीत होती हैं। जैसे स्त्री प्रेमी कामी पुरुषों को स्त्री विषयक चर्चा में नया ही नया रस निरन्तर अनुभव होता रहता है *। कामुक स्त्री पुरुषों में और दूसरी कौन सी बात होती है। दोनों ओर से एक ही विषय होता है "मैं तुम्हें चाहता हूँ मैं तुम्हें चाहती हूँ।" किन्तु यही एक बात मिश्री से भी अधिक मीठी, गुलाब जामुन से भी अधिक पुलपुली रसीली और चटपटी चटनी से भी अधिक हृद्य लगती है। इस

* सतामयं सारभृतां निसर्गो—
यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्यत्
स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता॥
श्री भा० १० स्क० १३ अ० २ श्लो०

से तृप्ति नहीं होती। रात्रि भर इसी एक बात को दुहराते हैं और इस में रस की अनुभूति करते हैं। इसी प्रकार कथा प्रेमी रसिकों को भगवान् की कथा को बार बार पढ़ने में नित्य नया नया रस आता है। रामायणजी का भागवतजी का जब भी नया पाठ करो, तभी एक प्रकार की नवीनता भक्तों को प्रतीत होती है। अभक्त तो उन्हें पढ़ते ही नहीं। यदि किसी विपरीत भावना से पढ़ते हैं, तो अर्थ का अनर्थ करते हैं। एक सुप्रसिद्ध संत मुझे बताते थे कि एक ईसाई पादरी मेरे समीप आया। उसने कहा —"मैंने १३ बार रामायण पढ़ी है १३ बार।"

मैंने पूछा—"तुमने रामायण में क्या पढ़ा, क्या समझा ?"

उसने कहा—"मैंने यही समझा कि रामायण का दशरथ महामूर्ख है, जो बहू के चक्कर में फँस गया और बेटों के झगड़े में मर गया। उससे भी अधिक मूर्ख राम है, जो एक कामी बाप के कहने से विमाता के भड़काने से इतने बड़े राज्य को छोड़कर वन में चला गया। उससे भी अधिक मूर्ख सीता है जो सास ससुर पति के समझाने पर भी बिना अपराध पागल पति के पीछे पीछे फिरती रही। सब से अधिक मूर्ख भरत है, की इतने बड़े स्वतः आये राज्य को छोड़ कर बाबाजी बना बैठा रहा।"

उन संत ने हँसकर कहा—"भैया ! तैंने तेरह बार की कौन कहे रामायण देखी भी नहीं ? रामायण के तुझे दर्शन ही नहीं हुए।"

वास्तविक बात यह है, कि यह तो भाव जगत की बातें हैं। भावना बिना इन बातों को कोई कैसे समझ सकता है, जिन्होंने इस जड़ भौतिकवाद को ही उन्नति का चरम-

लक्ष्य समझ लिया है, वे भावजगत् की इन उच्चतम बातों को कैसे समझ सकेंगे। बिना दाँतों वाला छोटा बालक ऊख को छीलकर चूसकर उसका रस पान स्वतः पान कैसे कर सकेगा। कोई कृपालु पुरुष गन्ने को छीलकर उसका रस मुँह पकड़ कर बच्चे को पिला दें तभी वह उस रस का स्वाद ले सकेगा। सो भी उसके भीतर रसास्वाद करने की शक्ति हो, वह निरोग हो। पित्त का प्राबल्य हुआ; तो गन्ने से निकाले मीठे रस का भी आस्वादन वह न कर सकेगा। रस की बातें रसिक ही समझ सकते हैं "भगवत् रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोई समुझ सकेना।" सो, वे लोग धन्य हैं, जिन्हें भगवान् की कथाओं में नित्य नूतन रस मिलता है, ऐसे भक्तों से संसर्ग रखने से हमें भी बल मिलता है। धर्म की बात मुझसे पूछो तो ऐसे ही लोगों के प्रोत्साहन से तो यह कथा लिखी जा रही है।

उस दिन एक सन्यासी सज्जन मेरे यहाँ आये। वे कुछ आलोचना प्रकृति के थे। बातों ही में उन्होंने बताया अमुक आदमी कह रहा था "ब्रह्मचारीजी भगवत् भक्ति का बड़ा प्रचार कर रहे हैं, मैंने तो स्पष्ट कह दिया—"वे भक्ति का प्रचार नहीं कर रहे हैं अपने नाम का प्रचार कर रहे हैं।" क्यों यह बात सत्य है न ?"

मैंने कहा—"सत्य नहीं, सोलह आने सत्य है। हम तो अपने नाम के ही लिये सब कुछ करते हैं। किन्तु नाम के लिये भगवान् की ही। कथातो कहते हैं अपने पाप को तो छिपाते हैं। कथाओं को प्रकाशित करते हैं। कथाओं में कुछ शक्ति होगी तो वे अपना फल दिखावेंगी ही। घृत या रस किसी पात्र में ही रहेगा। कथा को जो कहेगा उसी का नाम होगा। जितने भी

कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि हुए हैं अपना नाम लेकर ही तो उन्होंने गुन गान किये हैं ।

उन्होंने कहा—"वे लोग तो नाम चाहते नहीं थे, उनका नाम तो स्वतः ही हो गया। तुम तो सब नाम होने की ही भावना से करते हो।"

मैंने कहा—"यही हमारा दोष है कथा में शक्ति होगी तो इस दोष को नष्ट करके वह स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित हो जायगी । कथा तो रस वर्धिनी है ही। घी को चाहें सुवर्ण के पात्र में रखो या फूटी पुरानी हांडी में, स्वाद लेने वालों को तो दोनों में ही घृत का स्वाद आवेगा। हाँ, जो ऊपर के चाकचिक्य तो देखने हैं, वे मिट्टी के पात्र के घृत का तिरस्कार कर देंगे, किन्तु घृत ही रहेगा।"

बात यह है, कि भगवान् की कथाओं में रति जन्म के पुण्यों से नहीं होती । यह तो कोटि जन्म के पुण्य का फल है। जिनका भगवत्कथाओं में प्रेम हो गया है, वे धन्य हैं, उनका जीवन सार्थक हो गया। अपने जीवन में मैंने ऐसे कथा प्रेमियों के दर्शन किये हैं किन्तु अत्यन्त दुःख की बात है अब ऐसे कथा प्रेमी देखने में आते नहीं। अब समय बहुत भयंकर आ रहा है। अब आगे इतने भी न मिलेंगे। हमारे धर्म प्राण देश की भावी सन्तानों के हृदय में जड़ भौतिक वाद ने प्रवेश कर लिया है। वे इन सब बातों को निरर्थक और अवनति का कारण समझने लगे हैं। भगवान् ही रक्षा करें। वे ही चाहें तो उनकी सुमधुर कथाओं का प्रचार प्रसार हो सकता है। लोग चाहें माने न माने यह बात मैं डंके की चोट कहूँगा, संसारी संतापों से संतप्त प्राणियों के लिये शांति का पाठ पढ़ाने वाली भगवान् तथा भगवद्भक्तों की ये सुमधुर कथायें ही हैं।

इसी लिये गोपीगीत में गाते हुए गोपिकाओं ने कहा—"हे श्यामसुन्दर ! संसारी संतापों से तपे हुए जीवों को जीवन देने-वाली तुम्हारी ये कथायें ही हैं । मोह से मृतक प्राणियों के प्राण हीन शरीरों में ये ही जीवन का संचार करने में समर्थ हो सकती हैं । उन्हीं कविजनों की कविता तथा प्रतिभा सार्थक है जिन का उपयोग आप की ही कथा में होता हो । जो निरन्तर आपकी कमनीयकीर्ति का बखान करते हों । संसार में आकर ऐसा कौन जीव होगा, जिसे पाप न हुआ होगा । प्राणियों से पग पग पर पाप होते हैं । उनमें से कुछ पाप प्रायश्चित द्वारा नाश होते हैं कुछ प्रायश्चित्तों द्वारा भी नाश नहीं होते उन सभी आर्द्र तथा शुष्क पापों को नाश करने में आपकी कमनीय कथायें ही समर्थ हो सकती हैं । 'हमारा मङ्गल हो इसी उद्देश्य से लोग निरन्तर सब कर्म करते हैं । लोक परलोक के समस्त कार्य मङ्गल के ही निमित्त किये जाते हैं, किन्तु आत्यंतिक मंगल तो भगवान् की मंगल दायिनी अमृत मयी कथाओं से ही होगा । लोग अन्नदान करते हैं कन्या दान करते हैं, सुवर्णदान, पृथ्वी-दान गौदान, औषधिदान तथा विविध प्रकार के दान करते हैं । ये सब दान उत्तम हैं स्वास्थ्यप्रद हैं किन्तु सब से श्रेष्ठ दान है अभयदान । सम्पूर्ण दानों में प्रधान अभयदान बताया गया है ।

भगवान की कथा श्रवण के बिना अभय हो नहीं सकती अतः जो स्नेह भरित हृदय से आपकी कमनीय कथाओं का प्रचार करते हैं उन्हें लोगों को सुनाते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ दान हैं । और जो भगवंत् कथाओं से प्रेम करते हैं वे सब से बड़े भाग्यशाली हैं ।

भागवती कथा के पाठकों में अधिकांश भागवती कथाओं के

रसिक हैं। वे मेरे लिये भी भगवान् से प्रार्थना करें मेरा भी भागवत चरित्रों में अनुराग हो। मुझे भी कथायें मीठी रसीली लगने लगें। मैं भी उनमें विभोर बनकर लिखना, पढ़ना, छापना सब भूल जाऊँ अभी तो बाबाजी बनकर भी बुरे चक्कर में फँस गये हैं। जैसा पहिले सोचा था वर्ष भर में मैं इन सब झंझटों से पृथक हो जाऊँगा वैसा हुआ नहीं और अधिक पहिले से फस गया हूँ। इससे या तो भगवान् ही निकालें या आप जैसे कथा प्रेमी भगवत भक्तों का आशीर्वाद ही। अरे, मैं कथा की कथा कहते कहते अपनी कथा कहने लगा। बात यह है कि आदमी के जिस अंग में पीड़ा होती है, जहाँ कांटा लगा रहता है वहां मन रोकने से भी हठ पूर्वक चला जाता है। अच्छी बात है, अब आज इस कथा की कथा को समाप्त करता हूँ अब पाठक मन्वन्तरों की कथा, ग्राह से गज को बचाने की कथा समुद्र मंथन का कथा, कच्छप भगवान्, धनवन्तरि भगवान् तथा अजित भगवान् की कथा सुनें और उन मोहिनी भगवान् की भी कथा सुने जो नर से नारी बन गये जिन्होंने नथ पहिन कर घूं-घुट की ओट से कजरारे नयनों की चोट से असुरों को ही लोट-पोट नहीं कर दिया, किन्तु चन्द्रशेखर के भी चित्त को चुरा लिया। वे हमारे ऊपर कृपा करें और चुरी, बिछुआ, नथ फेंक कर मुरली लेकर हमें दर्शन दें।

संकीर्तन भवन, भूसी
शिवरात्र का प्रातः काल
सं० २००५

विनीत
प्रभुदत्त

Bishnu Das Malik
Pin-742133.

मथानी के लिये मन्दराचल

(५१५)

ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदा: ।
नदन्त उदधिं निन्यु: सक्ता: परिघबाहव: ॥
(श्री भा० ८स्क० ६ अा० ३३, श्लो०)

छप्पय

सब तैं पहिले चले उभय लैवे गिरि मन्दर ।
लीयो तुरत उखारि चले लैकें देवासर ॥
भारसह्यो नहीं जाइ सबनिकूँ चक्कर अावै ।
सब अकुलाये कहैं, भाड़ महँ अमृत जावै ॥
अड़ड़ड़धम करि गिरि गिरयो, पिचे देव दानव सबहिँ ।
हतोत्साह जब सब भये, प्रकटे गरुड़ध्वज तबहिँ ॥

बालक का जब उत्साह बढ़ाना होता है, तो उसे भाँवि भाँति के उत्साहवर्धक वचन कह कर चलने को माता पिता प्रेरित करते हैं। उनके उत्साह को पाकर वह अपने बल पर बिना

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार देवता और असुर सलाह कर के परिघ के समान भुजाओं वाले परम शक्ति शाली तथा अपने बल के अभिमान में चूर हुए सुर और असुरों ने अत्यन्त उत्साह के साथ मन्दराचल को उखाड़ लिया और क्षीर सागर के ओर उसे लेकर जाने लगे।"

माता पिता की उँगली पकड़े डगमगाता हुआ चलने का प्रयत्न करता है। कुछ दूर चलकर वह अपने भार को सहन करने में समर्थ न होने से गिर पड़ता है, गिर कर चोट लगने के कारण रोने लगता है। तब माता पिता दौड़ कर उसे उठा लेते हैं, छाती से चिपटा लेते हैं। बार बार उसके उत्साह को बढ़ाते हैं, और गोदी में लेजाकर उसे गन्तव्यस्थान तक पहुँचा देते हैं, जिससे आगे को यह हतोत्साह न हो। अपने प्रयत्न में सतत प्रवृत्त रहे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब देवेन्द्र शचीपति ने असुरों को अमृत के लाभ बताये तब वे सब के सब समुद्र मन्थन के लिये सहर्ष सहमत हो गये। अब तो देवता दैत्य सभी मिलकर सर्वप्रथम मन्दराचल पर्वत को लेने चले। सभी बली थे, सभी उत्साही थे, सभी अपने पुरुषार्थ के मद में मदोन्मत्त बने हुए थे। सभी ने एक साथ कोलाहल किया और मिलकर सहस्रों योजन वाले उस मन्दराचल को जड़ से उखाड़ ही तो लिया। उखाड़कर सब उसे लादकर ले चले। कुछ दूर तो उत्साह में चले, किन्तु वह पहाड़ इतना भारी था, कि देवता दैत्य दोनों उसके भार को सम्हाल न सके। दोनों के ही छक्के छूट गये। उत्साह मन्द पड़ गया। पैर लड़खड़ाने लगे, वाणी रुद्ध हो गई। अब एक पग भी आगे बढ़ने का साहस न रहा बीच में ही उसे पटक दिया। बहुत से उसके नीचे पिस गये, बहुतों के अंग दब गये बहुतों की कचूमर बन गई बहुतों के शरीर क्षत विक्षत हो गये। दोनों ही खीज कर कहने लगे— "भाड़में जाय ऐसा अमृत और चूल्हे में जाय ऐसा अमरपन।" बैठे ठाले किस संकट में पड़ गये। जब यह पर्वत ही हम से नहीं उठता, तो मन्थन कैसे होगा। अपने अपने घर चलें, हो गया समुद्र मन्थन। अमृत किसने देखा।"

अन्तर्यामी भगवान् ने जब देखा ये सब तो आरम्भ में ही
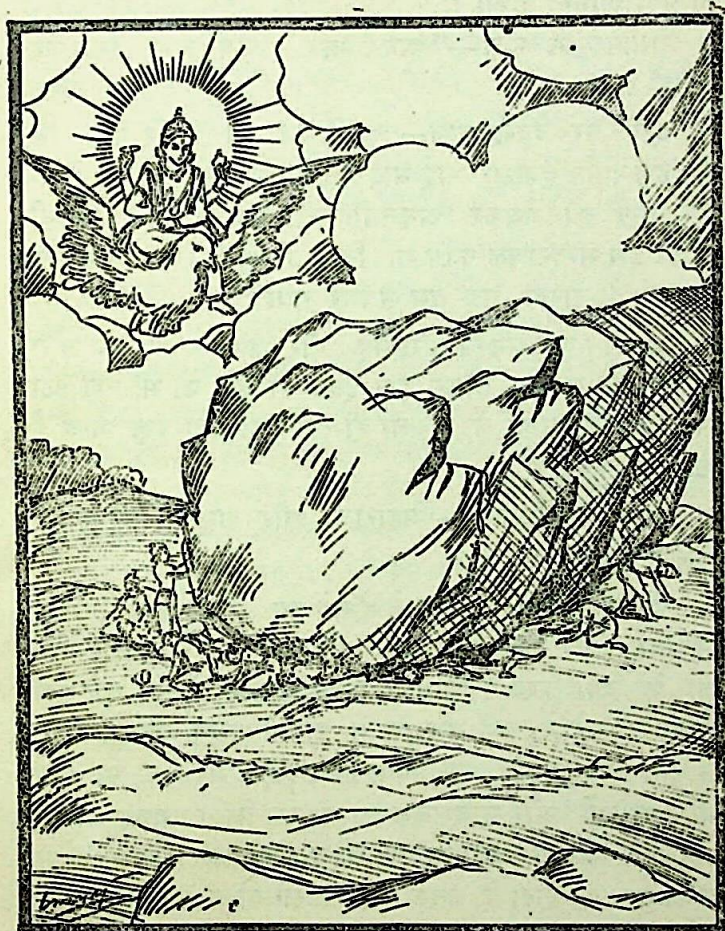
उत्साहहीन हो रहे हैं, तो उन सब को उत्साहित करने के

लिये तुरन्त वहाँ प्रकट हुए। भगवान् के दर्शन करके देवताओं को बड़ा आनन्द हुआ।

भगवान् ने पूछा—"अरे, भाई। तुम लोग क्या कर रहे हो ?"

इस पर देवेन्द्र बोले—"अजी, महाराज ! कर क्या रहे हैं। हम दोनो देवासुर भाई भाई हैं। हमारी इच्छा है हम मिलकर समुद्र को मथकर अमृत निकालें उसी के लिये मथानी बनाने इस मन्दराचल पर्वत को लिये जा रहे हैं। मार्ग में श्रमित हो जाने के कारण यह हम से गिर गया है।

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"अरे तुम लोग कश्यप की सन्तान होकर इस इतने से ढेले को भी नहीं उठा सकते। हटो, लाओ मैं अकेला ही तुम जहाँ कहो रख आऊँ ? कहाँ, ले चलना है ?"

देवताओं ने कहा—"महाराज, क्षीर समुद्र के तट तक ले चलना है।

इतना सुनते ही भगवान् ने हँसते हुए खेल खेल में लीला से उस पर्वत को छत्राक की भाँति बायें हाथ से उठाकर गरुड़ जी के ऊपर रख लिया। जो देवता दबकर लँगड़े लूले क्षत विक्षत हो रहे थे, उन्हें भगवान् ने अपनी अमृत वर्षिणी दृष्टि से पुनः पूर्ववत् स्वस्थ कर दिया। भगवान् गरुड़ जी पर स्वयं भी चढ़ गये और मन्दराचल को भी रख लिया। गरुड़ जी को क्या था जिनका जलपान ४० कोस ऊँचे हाथी और ४८ कोस के कछुए का होता है, उनके लिये सहस्रों योजन का मन्दराचल राई के समान था। क्षण भर में उड़कर क्षीर सागर के समीप पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर गरुड़ जी ने अपने पंखों से उस

पर्वत को उतार कर जल में रख दिया और देवताओं से बोले—"अब तुम लोग मथो समुद्र को।"

देवता और असुरों ने कहा—"महाराज, अभी कैसे मथें? मथने के लिये नेति रस्सी भी तो चाहिये। बिना दाम के केवल रई से तो नहीं मथा जा सकता। जब नागराज वासुकी आ जायँ, तो उन्हें लपेट कर मथा जाय।"

भगवान् बोले—"जाकर शीघ्रता से उनको भी बुला लाओ।"

देवताओं ने कहा—"महाराज, बुला कैसे लावें। जहाँ बिल्ली बैठी हो वहाँ लाख प्रयत्न करने पर भी चूहे नहीं आ सकते। आपके ये वाहन गरुड़जी तो सर्पों के शत्रु हैं। यदि इन्हें कहीं भूख लग गई, तो एक झपट्टे में ही वासुकी को उड़ा जायँगे। न हमारा समुद्र मन्थन होगा न अमृत निकलेगा। नागराज के प्राण व्यर्थ में ही जायँगे। अतः जब तक गरुड़जी हैं तब तक नागराज नहीं आ सकते।"

यह सुनकर भगवान् ने हँसते हुए गरुड़जी से कहा—"अच्छा, गरुड़जी! अब आप कुछ काल के लिये घूम फिर आइये।"

गरुड़जी ने खिसिया कर कहा—"अजी, महाराज! इतनी दूर से ढोकर हम मन्दराचल को यहाँ लाये, कुछ अमृत हमें भी मिलना चाहिए।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"जाओ, जाओ, भाग जाओ। लड़कपन मत करो। तुम्हें अमृत की क्या आवश्यकता है। तुम तो विष को भी अमृत बना सकते हो। होने दो खेलमाल। गड़बड़ सड़बड़ मत करो।"

गरुड़जी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! लो, जाता हूँ मैं, आप इस बच्चों के खेल को कीजिये। आपको भी जब

कोई धुनि सवार हो जाती है तो सब कुछ कर डालते हो। बड़े बड़े ढोंग रचते हो।" यह कहकर गरुड़जी वहाँ से फर्र फर्र पंखों को फटं फटाते, समावेद का घोष करते हुए उड़ गये।"

भगवान् ने कहा—"अब भैया देर का काम नहीं। "शुभस्य शीघ्रम" जाओ नागराज वासुकि के पास उन्हें समझा बुझाकर ले जाओ।"

भगवान् की आज्ञा पाकर देवता दैत्य मिलकर वासुकि के पास पहुँचे और जाकर कहा—"नाग हमारा एक बड़ा कार्य है। हम समुद्र मथकर अमृत निकालना चाहते हैं, आप हमारी सहायता करें।"

नागराज वासुकि ने कहा—"मैं क्या सहायता कर सकता हूँ, तुम लोग इतने बली हो मुझे तो मथना आता नही।"

देवताओं ने कहा—"अजी, आप से हम मथवायेंगे नहीं। आपको नेति बनाकर मन्दराचल में लपेट कर हम दोनों भाई मथेंगे।"

सूखी हँसी हँसकर वासुकि बोले—"यह अच्छी बात रही। माल उड़ाओ तुम और शरीर चकना चूर हो मेरा "गुड़ खाय दादी, कान छिदावे लाली।" पहाड़ से मेरे शरीर को रगड़ोगे यह मेरे वश की बात नहीं है।

देवता और असुरों ने कहा—"अजी, नागराज! यह परोपकार का कार्य है। अपने शरीर को क्लेश देकर ही तो दूसरों का उपकार किया जाता है।

सिर हिलाते हुए वासुकि ने कहा—"ऐसे परोपकार को दूर से ही डंडौत है। पहिले आत्मा तब परमात्मा। शरीर को बचाकर ही परोपकार किया जाता है। मेरा शरीर उधार का

तो है ही नहीं अमृत पीओ तुम और मसला जाय मेरा शरीर ?"

यह सुनकर देवता असुर बोले—"अच्छी बात है आपको को भी अमृत का भाग देंगे। आधे साझे पर तो चलोगे ?"

यह सुनकर वासुकि ने कहा—"अच्छी बात है, यदि आध बटाई पर चलना है तो चलो।' इस पर उन्हें समझा बुझाकर क्षीर समुद्र के तट पर ले आये।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन् ! अब तो मथानी-रई भी आ गई। नेति-रस्सी भी आ गई अब मथना ही शेष रहा। सबसे पहिले पीताम्बर फेंक बाँधकर वस्त्राभूषणों को सम्हाल देवताओं का पक्ष लेकर अजित भगवान् ही समुद्र मन्थन करने को उद्यत हुए। यह लीला तो पूरी की पूरी राजनीति की थी इसमें तो पगपग पर छल कपट से ही काम लेना था। आरम्भ में ही भगवान् ने एक ऐसी युक्ति की कि उसे भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई कर ही नहीं सकता था। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।" इतना कहकर भगवान् शुक कुछ काल के लिये मौन हो गये।

छप्पय

हँसिकें बोले विष्णु--डारि गिरिवर क्यौं दीयो।
व्यथित दुखित सुर लखे गरुड़पै गिरि धरि लीयो॥
लाइ सिन्धु ढिँग धर्‌यो गरुड़ तैं बोले जाओ।
पुनि देवनि तैं कहैं वासुकी नागहिँ लाओ॥
गये वासुकी निकट सब, अम्मृत को लालच दयो।
लाइ लपेटैं दाम करि, मथो विहँसि हरिने कह्यो॥

———

उलटों से उलटा व्यवहार

(५२६)

आरेभिरे सुसंयत्ता अमृतार्थं कुरूद्वह ।
हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन् ॥
तन्नैच्छन्दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम् ।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ७ श्रा० २, ३ श्लो०)

छप्पय

पीताम्बर की फैंट बाँधि हरि पकरयौ मुख जब ।
सुरहू पीछे लगे क्रोध करि कहैं असुर सब ॥
हम कुलीन विद्वान अमङ्गल पूँछ न पकरैं ।
रूँगटि यदि तुम करो यहाँतैं हम सब निकरैं ॥
हरि हँसि बोले व्यर्थ च्यौं, बाद बढ़ाओ बन्धुवर ।
सब सुर पकरो पूँछकूँ, मुख कूँ पकरैं ये असुर ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब देवता और असुरों ने भली भाँति सावधान होकर अमृत के लिये समुद्र को मथना आरम्भ किया । सबसे पहिले भगवान् ने वासुकि का मुख पकड़ा, देवताओं ने भी भगवान् का अनुकरण किया । अब असुरों के लिये पूंछ रह गई । उन्हों ने पूंछ पकड़ना स्वीकार नहीं किया भगवान् की इस चेष्टा का विरोध करते हुए वे बोले—"हम लोग सर्प की अपवित्र पूंछ को कभी भी नहीं पकड़ेंगे ।"

संसार में जिससे जिस ढँग से काम निकले उससे उसी ढँग से काम लेना चाहिये। लड़का चन्द्रमा लेने को मचल रहा है, किसी तरह से मानता ही नहीं, तो उसे जल में प्रतिबिम्ब दिखाकर कह देते हैं यही चन्द्रमा है। किसी अनिष्टकारी वस्तु के लिये आग्रह कर रहा है। रो रहा है। तो उसे झूठे ही फैंक कर छिपा लेते हैं और हाथ हिला कर कह देते हैं चिड़ियाँ ले गई। किसी को अपनी स्तुति प्रिय है, तो उसकी स्तुति करके काम निकाल लेते हैं। कोई गीत प्रिय हैं तो उसे संगीत सुना कर स्वार्थ साध लेते है कोई हास्य प्रिय है तो उसे हँसा कर अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं। सारांश अपना काम जिससे निकलता हो, उसे यथाशक्ति अपने अनुकूल बनाना पड़ता है। कोई उलटी खोपड़ी के होते हैं, उनसे उलटा ही व्यवहार करना पड़ता।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब मथनी, मथानी नेति सब साज सामान जुट गये तब समुद्र मन्थन की बारी आई। सहस्रों योजन लम्बे वासुकि नाग को मन्दराचल में लपेट दिया। एक ओर उसकी पूँछ थी दूसरी ओर मुख। दोनों ओर से दोनों पक्ष के लोग खींच कर मैथें तब समुद्र मथा जाय। भगवान् ने सोचा ये देवता सुकुमार हैं, भोले भाले हैं, यदि इन दुष्ट दैत्यों ने इन्हें मुख की ओर लगा दिया, तो ये बेचारे तो नाग की विषैली फुफकार से ही मर जायँगे ये असुर औंधी खोपड़ी के हैं, यदि इन से कहो कि तुम पूँछ की ओर लग जाओ, तो अड़ जायँगे हम पूँछ क्यों पकड़े? इसलिये पहिले देवताओं को ही मुँह पकड़ावें, जिससे ये उलटा ही सोचें।" यही सब सोच विचार कर अजित भगवान् ने मेघ गंभीर वाणी से कहा—"हाँ वीरो! तो अब लग जाओ अपने

अपने क़ाम में।" यह कह कर स्वयं ही पीताम्बर की फेंट बाँध और वस्त्राभूषणों को सम्हाल कर वासुकि की मुख की ओर लग गये। भगवान् को मुख के ओर लगा देखकर देवताओं ने भी अनुकरण किया, वे सब भी नाग के मुख की ओर लग गये। तब भगवान् ने असुरों से कहा—"देखते क्या हो भैया! तुम भी एक ओर लग जाओ और होने दो घमर घमर।"

इतना सुन कर भी असुर चुप चाप खड़े रहे। वे मन्दराचल के समीप भी नहीं आये।"

जब भगवान् ने फिर कहा—"तो आँखें लाल लाल करके असुर बोले—"विष्णो! तुम हमें क्या समझते हो? क्या हम विद्वान् नहीं? कुलीन नहीं? क्या हम वेद पाठ, यज्ञ हवन दान नहीं करते? हम किससे कम हैं?"

भगवान् ने हँस कर कहा—"भैया! मैं कब कम बता रहा हूँ, तुम देवताओं से भी डेढ़ हाथ ऊँचे सही। इसमें छुटाई बड़ाई की क्या बात है, एक ओर तुम लग जाओ, एक ओर हम सब लगते हैं"

उसी क्रोध के स्वर में असुर बोले—"लग कैसे जायँ, तुम्हारे कहने से? तुम संसार भर के छली कपटी, बताओ? हम कुलीन सदाचार, श्रेष्ठ होकर साँप की पूँछ पकड़ें? साँप की पूँछ तो महा अशुद्ध और अमंगलकारिणी मानी जाती है। हम तो उसे छूएँगे भी नहीं।"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और मन ही मन सोचने लगे—"अच्छा बच्चू जी! मत छूओ जब मुँह से विषैली वायु निकलेगी तब दाल आटे का भाव मालूम पड़ेगा। तब बड़प्पन मालूम होगा। यह सोचकर भगवान् ने मुख को छोड़ दिया

और देवताओं से कहा—"चलो, भैया! हम लोग सब छोटे ही सही, पकड़ो पूँछ। इन बड़ों को मुँह ही पकड़ने दो।" इतना कह कर पूँछ की ओर जा लगे, देवताओं ने भी भगवान् के पीछे पीछे पूँछ पकड़ी। तब भगवान् असुरों से बोले—"कहो, भाई! अब प्रसन्न हो? हमें तो तुम्हें सन्तुष्ट रखना है। अच्छा, अब मुँह ही पकड़ो।"

भगवान् की ऐसी बात सुनकर असुर बड़े प्रसन्न हुए। वे सोचने लगे ये देवता बड़े दब्बू हैं इनसे जो कहो वही करने को तैयार हैं। इन सब में यह चतुर्भुज अजित विष्णु ही चाँइया है। यही इनको पट्टी पढ़ाता रहता है नहीं तो ये देवता कर ही क्या सकते हैं। करालो हमसे परिश्रम ऐसे निर्बल पुरुष अमृत तो प्राप्त ही कैसे कर सकते हैं। यही सब सोचकर उन्होंने वासुकी का मुख पकड़ा।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी, भगवान् ने बड़ी कूट नीति से काम लिया। ऐसी वँचना भगवान् ने क्यों की?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! जब किसी औंधी खोपड़ी वाले से पाला पड़ जाता है तब अपना काम निकालने को उलटी ही बातें करनी पड़ती हैं। यदि ऐसा न करें तो काम ही न चले। इस विषय में एक मनोरंजक कथा सुनाता हूँ।

एक ब्राह्मण देवता थे। दुर्भाग्य से उन्हें औंधी खोपड़ी की बहू मिली वे कहें 'आज खीर पूड़ी साग रायता बनाना, तो उस दिन अदवद के रूखी रोटी बनाती और जिस दिन रूखी रोटी बनाने को कहते उस दिन हलुआ पूड़ी घोटती। ब्राह्मण कहें आज मेरे पिता का श्राद्ध है १० ब्राह्मण जिमा दो, तो वह

कहे कोई आवश्यकता नहीं। जिस दिन जिमाने को मना करें उस दिन अवश्य निमन्त्रण करके जिमा दे।

ब्राह्मण उसका स्वभाव समझ गये। अब उन्हें जो कहना हो, उलटा ही कहा करें। शरीर में दर्द हो तो कहें आज तू मेरा शरीर दबाना मत,तब वह आकर दबाने लगती—"नहीं मैं तो दबाऊँगी ही।" जिस दिन खीर पूड़ी खाने की इच्छा हो उस दिन कहें आज सूखी रोटी ही बनाना। खीर आदि मत बनाना।' उस दिन वह अवश्य खीर पूड़ी बनाती। इस प्रकार काम निकलने लगा। एक बार दोनों मिलकर गङ्गा जी स्नान को गये किनारे पर वस्त्र रखकर दोनों नहाने लगे। वर्षा के दिन थे, गंगा जी बढ़ रही थीं ब्राह्मण नहाते नहाते उसके उलटे स्वभाव को भूल गये। सहज स्वभाव में ही चिल्ला उठे देखना भीतर मत जाना।"

उसकी तो ब्रह्माजी ने खोपड़ी ही उलटी बनाई थी, यह सुनते ही वह और भीतर घुस गई। भीतर जाकर गुड़ुप गुड़प पानी पीने और डूबने लगी। ब्राह्मण घबड़ाये और अपनी धोती फेंकी और बोले—"अरे, इसे पकड़ ले।" उसे तो सब काम उलटा ही करना था, पास में धोती रहने पर भी न पकड़ी, एक लहर आई वह गई डूब गई।

ब्राह्मण रोते रोते उसे ढूँढ़ने चले। जिधर गङ्गा जी का प्रवाह था उसके विपरीत वे चले। रोते जाते थे और देखते जाते थे। किसी ने पूछा—"क्या बात है?"

ब्राह्मण ने बताया—"मेरी स्त्री बह गई है उसे ही खोज रहा हूँ। वह न मिले तो उसकी लाश ही मिल जाय, जिससे क्रिया कर्म करदूँ।"

उस पुरुष ने हँस कर कहा—"तुम बड़े पागल आदमी हो

जी ! अरे, जब गङ्गा जी में वही है, तो प्रवाह की ओर खोजो, वह कर तो आगे ही जायगी, इधर खोजने से क्या लाभ ?"

उसने कहा—"महाराज ! उसकी औंधी खोपड़ी थी। सब काम वह अपने जीवन में उलटे ही करती थी, अतः मेरा विश्वास है, मर कर भी वह सीधी न वह कर उलटी ही वही होगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! भगवान् को तो देवताओं को अमृत पिलाना था। उन्होंने सोचा इन औंधी खोपड़ी के असुरों से जैसे—जिस रीत से भी —काम निकले उसी रीत से निकालना चाहिये इसीलिये भगवान् ने यह युक्ति निकाली। वे तो अन्तर्यामी हैं, घट घट के भावों को जानते हैं। इस समय खिलाड़ी का वेष बनाये हैं। जिस रीति से खेल रोचक बने, जिस क्रिया से जिस खेल में सरसता आ जाय वही सब कर रहे हैं। अब मुख की ओर असुर लगे पूँछ की ओर देवता लगे। दोनों ही समुद्र मथने को उद्यत हुए।

छप्पय

युक्ति सहित यों देव विपत्तितैं अजित बचाये।
तुरत सर्प मुख छोड़ि पूँछ ढिँग हरि सँग आये॥
यों करि पृथक विभाग सिन्धुकूँ मथवे लागे।
कसि कसि कें सब फेंट होड़करि खींचें आगे॥
पहले खींचें असुर सब, पुनि सुर खींचें दामकूँ।
धँस्यो जाय गिरि उदधिमहँ, सुमरें सुर सब श्यामकूँ॥

कच्छपावतार

(५१७)

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

असुर कहें—सुर ढीलि देहिँ ये कम सब बलमहँ ।
सुर सोचें—यह निराधार गिरि डूबत जलमहँ ॥
कछुक कहें विघ्नेश न पूजे अब फल पाओ ।
कछु अनन्य यों कहें हृदय तें अजित मनाओ ॥
हरि निरखें भयभीत सुर, तुरत कूर्म तनु धरिकें ।
धारयो मंदर पीठिपै, उछरे बुड़की मारिकें ॥

वस्तु हो आधार पात्र न हो, तो वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती । उसका । पतन हो जाता है । पतन से जो त्राण करे

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"विघ्नेश्वर के किये हुए महान् विघ्न को देखकर भगवान् ने बड़ाभारी अद्भुत कच्छप का रूप धारण कर लिया क्योंकि वे अनन्त पराक्रमी और अमोघ संकल्प हैं । समुद्र के जल में घुसकर डूबते हुए पर्वत को ऊँचा उठा दिया।"

वही आधार पात्र है । इसीलिये श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं, वे पतन से बचाते हैं गिरते हुए को सहारा देते हैं, जहाँ कोई भी अवलम्ब नहीं होता, वहाँ वे अवलम्ब देते हैं । जहाँ कोई आधार नहीं होता वहाँ वे स्वयं आधार बन जाते हैं। वे सर्वत्र हैं सर्व समर्थ हैं जीव की यही अल्पता है, कि वह घोर विपत्ति में पड़ कर किंकर्तव्य विमूढ़ बन जाता है और सोचता है, अब हम क्या करें अब हमारी रक्षा कैसे हो ? किस प्रकार हम अपना बचाव कर सकें, यदि सर्वावस्था में सर्वेश्वर का ही चिन्तन करता रहे, उन्हें न भूले तो वे सभी विपत्तियों से बचाते हैं । सभी विघ्नों को दूर करते हैं । अन्य देवों के किये हुए अन्तराय को भी हटा देते हैं । अतः सब कार्यों को करते हुए आधार तो उन अखिलेश अच्युत को ही समझना चाहिये ।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! मन्दर को भगवान् ने पहिले तीर पर थोड़े जल में ही रख दिया था । जब उसके चारों ओर वासुकी को लपेट कर अथाह जल में छोड़ा, तो वह नीचे धँसने लगा । देवता चिल्लाने लगे—'अरे, भाई, इतनी ढील क्यों दे रहे हो ? कस कर पकड़ लो । देखो, मंदराचल जल में डूबा जा रहा है ।"

इस पर असुर लाल लाल आँखें करके क्रोध में भर के बोले—"तुम देवता तो सदा के निर्बल और डरपोक हो। हमारी तुम्हारी जोड़ी कैसे निभ सकती है, तुम तो बल ही नहीं लगाते ।"

देवताओं ने दीनता के स्वर में कहा—"अरे, भाई ! और कितना बल लगावें शक्ति भर तो हम उठा रहे हैं । जल में कोई नीचे आधार तो है नहीं, अगम अथाह जल है । इतना

भारी मन्दराचल है यह बिना आधार के कैसे टिक सकता है ?"

दैत्यों ने कहा—"वासुकी को कसलो। अधर में उठाकर मथो।"

यह सुनकर देवताओं ने पूंछ को कसकर पकड़ा अब तो वासुकी का शरीर पिचने लगा। कष्ट होने से वह मुँह से विष उगलने लगा। उस विषैली वायु से असुरों को मूर्छा सी आ गई अब तो उन्होंने भी साहस छोड़ दिया। निराश होकर बोले—"भैया! यह तो निराधार में टिकने का नहीं। डूबता है तो डूबने दो आरम्भ से ही इसमें विघ्न पड़ रहे हैं जिस काम में आरम्भ से ही पग पग पर विघ्न हों, उसका परिणाम शुभ नहीं होता। भाड़ में जाय यह अमृत। यह कहकर वे छोड़ बैठे इधर देवताओं की दशा अत्यंत ही सोचनीय थी। निराशा के कारण वे दुखित होकर मन ही मन मदन मोहन माधव का स्मरण करने लगे और आर्त होकर कहने लगे—"प्रभो! आप ही हमारे आधार हैं हमारा पुरुषार्थ तभी सफल हो सकता है जब आप उसे पूर्ण करना चाहें।

अनन्त पराक्रमी अमोघ संकल्प अजित भगवान् ने जब देखा, कि इन लोगों ने कार्य के आरम्भ में विघ्न विनाशक एकदन्त श्रीगणेश जी का पूजन नहीं किया है। इसीलिये यह सब विघ्न हो रहे हैं इसलिये देवता दैत्य दुखी हो रहे हैं और मेरी सहायता चाह रहे हैं तब बहुरूपिया भगवान् ने एक बड़े भारी कछुए का रूप धारण कर लिया। मन्दराचल क्षीर सागर में धँसता ही जा रहा था, केवल उसके ऊपर की एक चोटी शेष थी। वासुकी जल से भयभीत होकर उसे छोड़ने ही वाले थे कि सहसा कच्छप भगवान् ने उस इतने बड़े

विशाल पर्वत को अपनी पीठ पर धारण कर लिया और सहसा जल में से उछले। उनके उछलते ही मन्दराचल फिर निकल आया। देवता दैत्यों को बड़ी प्रसन्नता हुई। असुरों ने पुनः वासुकी का मुख पकड़ लिया। देवता तो पूँछ पकड़े प्रभु की प्रार्थना कर ही रहे थे। सबके मुख की मलीन हुई कान्ति फिर दमकने लगी। सभी का चित्त प्रफुल्लित हो गया। उस इतने बड़े कच्छप को देखकर दैत्य परम विस्मित हुए। देवताओं ने निश्चय कर लिया, ये दयासागर, दीनबन्धु, अजित, भगवान् ही हैं। ये ही कच्छप बनकर हमें आधार प्रदान कर रहे हैं। ये ही हमें विपत्ति से बचाने के लिये कछुआ बने इस पर्वत को धारण किये हुये हैं।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"महाराज! इतने बड़े सहस्रों योजन लम्बे चौड़े मन्दराचल को पीठ पर धारण करने से भगवान् को कष्ट नहीं हुआ होगा, फिर उन्होंने कितना बड़ा रूप अपनाया होगा?"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—अजी, राजन्! अमेय भगवान् वासुदेव को कष्ट ही क्या? उनके लिये सम्भव असंभव कोई बात ही नहीं। कच्छप क्या था मानों समुद्र में एक नया ही जम्बूद्वीप उत्पन्न हो गया हो। एक लाख योजन का भगवान् का वह विचित्र विग्रह था। उस पर मंन्दराचल ऐसे ही रखा था जैसे सुमेरु पर कोई फल।

जब देवता और असुर मिलकर उनकी पीठ पर रखे मन्दराचल को घुमाते, तो वह पीठपर घूमता हुआ उन्हें ऐसा प्रतीत होता था मानों कोई चींटी रेंग रही हो अथवा सोते समय बड़े आदमियों के तलवों को सुकुमार हाथों से ललनायें शनैः

शनैः सुहलाती रहती है, जिससे निद्रा आ जाय। उसी प्रकार भगवान् को प्रतीत हुआ मेरी पीठ को कोई मृदुकरों से सुहला रहा है। इसीलिये उन्हें झपकियाँ आ जाती। जब झपकी लेते तभी मन्दराचल कुछ नीचे घुसने लगता। पुनः सम्हल जाते। इस प्रकार भगवान् के लिये तो वह खेल हो गया था। जल में शयन करने की तो इनकी पुरानी टेव है इसी लिये मीठी मोठी झपकियाँ लेते हुए क्षीर सागर की लहरों में आनन्द लूटने लगे। कभी क्षीर सागर का दुग्ध के समान मीठा जल मुख में चला जाता, तो मुख को चाट लेते फिर अपने अंगों को समेट कर सो जाते। शीतल मन्द सुगन्धित वायु चल रही थी। पीठ को देव दानव मन्दराचल से सुहला रहे थे। सोने का सभी सामान तो सुन्दर था। भगवान् खुर्राटे भरने लगे। योग निद्रा में निमग्न होकर अपने आप में ही रमण करने लगे।

यह समुद्रमन्थन लीला श्रीहरि का एक अद्भुत खेल है। जैसे नाटककार बहुत से लोगों को स्वयं ही तो सिखाता पढ़ाता है। स्वयं ही कोई नाटक बनाता है, स्वयं ही उसकी कल्पना करता है स्वयं ही पात्र चुनता है, स्वयं ही अपनी इच्छानुसार पर्दे बनवाता है, स्वयं ही रंगमञ्च निर्माण करता है। स्वयं ही पात्रों को गाना, बजाना, नाचना, सिखाता है। स्वयं ही संकेत कर करके अभिनय कराता है और फिर स्वयं ही देख देखकर प्रसन्न होता है। इसी प्रकार भगवान् ने स्वयं ही तो देवताओं को समुद्र मथने की सम्मति दी। स्वयं ही गरुड़ पर लाद कर मन्दराचल पर्वत को लाये। स्वयं ही सम्मति देकर नागराज वासुकी को बुलाया। स्वयं ही कछुआ बन गये, किन्तु स्वयं शक्ति न दें तो समुद्र मथा कैसे जाय। अतः दैत्य रूप से दैत्यों में देव

रूप से देवों में स्वयं शक्ति देकर उनके भीतर शक्ति का सञ्चार करने लगे। निद्रा रूप से वासुकि के शरीर में घुस गये, कि वार बार खींचने से कष्ट न हो। स्वयं अपनी शक्ति से सहस्रों भुजावाले बन कर उस मन्दर को दवाये रहे, कि इधर उधर गिर न जाय। इस प्रकार ऊपर नीचे अगल बगल, मथने वाले मथाने वाले आदि सभी में वे ही हरि व्याप्त थे। स्वयं ही क्रीड़ा करने को नाना वेष बनाये कौतुक रच रहे थे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार श्री हरि की शक्ति सर्वत्र व्याप्त हो जाने से अब समुद्र भली भाँति मथा जाने लगा।

छप्पय

मन्दर उठतो निरखि सुरासुर सबई हरषे।
भये मुदित मुनि सिद्ध सुमन बहु नभते बरषे।
नीचे ऊपर देव दैत्य मन्दरमहँ श्रीहरि॥
वासुकि तनमहँ घुसे रूप तिनमहँ तस तस धरि॥
धर्रमर्र करि मथै सब, मन्दर मथनी सम फिरै।
कच्छप प्रभु की पीठिपै जनु प्रमदा खुजली करै॥

———

श्रीहरि द्वारा समुद्र मन्थन

(५१८)

मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योत विद्युन्,
मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा,
मन्थन् मन्था प्रतिगिरिवाशोभताथोद्धृताद्रिः ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

वायु विषैली लगी दैत्य झुलसे रिसियाने ।
अमृत निकसै नहीं सुरासुर सब खिसियाने ॥
सबकूँ निरख्यो विकल अजित हँसि बोले बानी ।
हो कश्यप संतान थाह तुम सबकी जानी ॥
लाओ मारूँ हाथ द्वै, अम्मृत देउँ निकारिकैं ।
मोऊकूँ मिलि जाय कछु, खेचूँ रईं रिस्याइकैं ॥

सद् वृत्तियाँ ही सुर हैं असद् वृत्तियाँ ही असुर हैं । जब सद्वृत्तियों पर असद्वृत्तियों की विजय हो जाती है, मनुष्य अपने पुरुषार्थ से असद् वृत्तियों को दबाने में असमर्थ होता है

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिस समय देवताओं की ओर से भगवान् समुद्र को मथने लगे उस समय उनकी कैसी अद्भुत शोभा थी । वे स्वयं मेघ के समान श्याम थे । कानों में कुण्डल बिजली

तो वह गुरु ब्रह्मा के पास जाता है गुरुदेव उसको भगवान् का मार्ग बताते हैं । गुरु तो समर्थ हैं अपने पुरुषार्थ से प्रभु को प्रकट कर लेते हैं, किन्तु शिष्य को साधन बताते हैं सद्-वृत्तियों को कार्य में लगाते हैं, कर्म का महत्व बताते हैं । संसार रूप सागर को ज्ञानरूप मन्दर की मथनी बनाकर वैराग्य रूप वासुकी की नेति से मथने को आज्ञा देते हैं । मथने में लोभ हो जाय, तो मन्थन व्यर्थ है अतः सुवर्ण रत्नों के प्रति निर्लोभता त्याग का उपदेश देते हैं । असद् वृत्तियों का तिरस्कार नहीं जहाँ तक वे अपने उद्देश्य में सहायक हैं तहाँ तक उनका सहयोग भी वांछनीय है । पुरुषार्थ के द्वारा त्याग वृत्ति से मन्थन रूपी साधन पुनः पुनः किया जाता है अथात् निरन्तर अभ्यास करते रहने से प्रथम तो विघ्न रूप विष उत्पन्न होता है । जिस साधन में विघ्न नहीं वह प्रगतिशील नहीं । योग के समस्त विघ्नों को शिव शांत कर देते हैं विघ्नेश उन विघ्नों को पा जाते हैं । तदनन्तर विविध रत्न रूप सिद्धियाँ सम्मुख आने लगती हैं । श्री अर्थात् शोभा को न समझ कर सिद्धियों में चित्त को न फँसाकर जो निरन्तर अव्यग्र भाव से मन्थन कार्य अर्थात् अभ्यास करता रहता है, तो अन्त में उसे अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है । अमृतत्त्व की प्राप्ति होने से जीव कृत्यकृत्य हो

के सदृश चमक रहे थे । सिर पर की अलकावली हिलती हुई शोभा दे रही थीं, गले में वनमाला पहिने थे, उनके नेत्र अरुण थे । जगत् को अभय प्रदान करने वाली अपनी विश्वविजयिनी बाहुओं से साँप को पकड़कर मन्दराचल की मथानी से क्षीर सागर को मथने लगे, तो ऐसे प्रतीत होते थे, मानो गिरिराज को या गोवर्धन को उखाड़ कर धारण करने वाले श्री कृष्ण हों ।"

जाता है। वह जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है । यही समुद्र मन्थन के रूपक का आध्यात्मिक रहस्य है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! देवता और दैत्य समझ रहे थे, कि हम स्वयं समुद्र को मथ रहे हैं, अपने पुरुषार्थ से अमृत निकाल लेंगे। उन्हें इस बात का पता नहीं था, कि पर्वत के ऊपर नीचे, हमारे शरीरों में, इस मन्दराचल पर्वत में वासुकी नाग में वे ही परमात्मा व्याप्त हैं। उन्हीं की शक्ति से यह सब प्रपञ्च चल रहा है । पर्वत जब वेग से समुद्र में घुमाया जाने लगा तो, मगर, घड़ियाल मछली आदि अनेक जलजन्तु अत्यन्त व्याकुल हो गये। नागराज वासुकि का शरीर कुछ दुखने लगा। वे अपने नेत्रों और मुखों से विष उगलने लगे, जिससे असुर अत्यन्त ही त्रस्त हो गये। उनका उत्साह भंग हो गया। सर्प की श्वासों से निकलते हुए विषाग्नि धूम्र से निस्तेज होकर पौलोम, कालेय और इल्वल आदि दैत्यगण दावानल से झुलसे हुए अग्नि लगे वृक्ष के समान मुरझा गये।

इधर वासुकी की स्वांस देवताओं तक भी आती थी जिससे देवताओं के भी वस्त्र माला मुकुट, मुख तथा अन्य आयुध आभूषण धूम्र वर्ण के हो गये थे। भगवान् ने देखा अब तो बात बिगड़ना चाहती है। खेल समाप्त होना चाहता है। ताव के आने के पूर्व ही चासनी व्यर्थ बनना चाहती है तो, उन्होंने सुन्दर सुशीतल समुद्रों की तरंगों से स्पर्शित सुगन्धित वायु चलाकर तथा रिमिझिमि रिमिझिमि नन्हीं नन्हीं बूँदे बरसाकर देवताओं के श्रम को दूर कर दिया। फिर भी भगवान् ने देखा अमृत नहीं निकल रहा है और देवता असुर दोनो ही घबड़ा

रहे हैं तो भगवान् ने कहा—"देवता और दैत्यो! लाओ, अब हम भी अपने बल की परीक्षा करें।"

सब ने प्रसन्नता पूर्वक कहा—"हाँ महाराज! आप भी अपना बल लगाइये।"

बस फिर क्या था भगवान् ने कस कर फेंट बाँधी और देवताओं की ओर खड़े होकर वसुकि नाग की पूँछ पकड़ कर मथने लगे। अहा! उस समय की श्रीहरि की शोभा कैसी
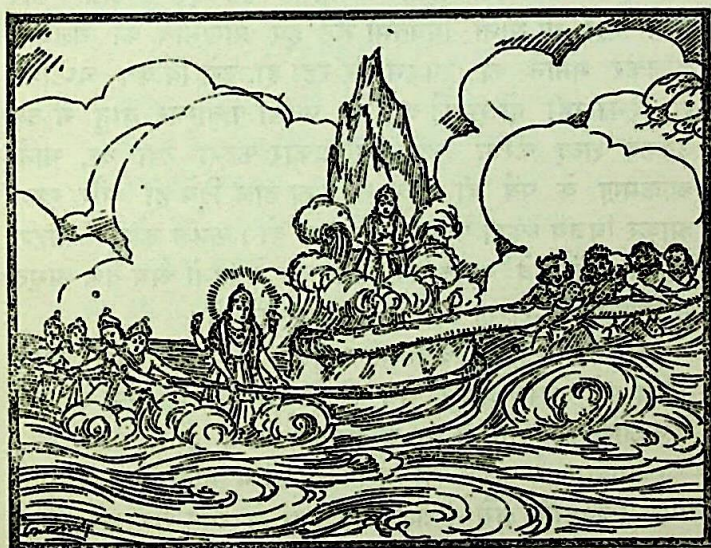
अद्‌भुत थी। ऐसा प्रतीत होता था मानों विद्युत् को लपेटे नीलांजन पर्वत मन्दर पर्वत से युद्ध कर रहा हो उस समय श्री हरि के कानों में कमनोय कुण्डल हिलहिल कर मानों मना

कर रहे हों, कि प्रभो ! आपका यह कार्य नहीं है। आपके बल लगाते ही धरा रसातल में धँस जायगी, समुद्र सूख जयगा, मन्दराचल के टुकड़े टुकड़े हो जायँगे। वासुकि का अस्तित्व मिट जायगा।

उनके सिर के काले कुंचित नागों के छौनों के सदृश वाल हिलहिल कर ऐसे प्रतीत होते थे मानों वासुकी नाग के बच्चे अपने पिता के ऊपर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध सिर हिला रहे हो। भगवान् के ऐसा न करने को मना कर रहे हों। पाँचों रंग वाली वनमाला कंठ देश में उसी प्रकार हिल रही थी मानों प्रियतमा रूठे हुए प्राणनाथ को गलबैयाँ डालकर मनाने का उपक्रम कर रही हो, उसे विविध चेष्टाओं से रिझा रही हो सुवर्ण वर्ण का पतला पीताम्बर वायु में उड़ उड़कर शब्द करता हुआ उसी प्रकार फहरा रहा था, मानों आक्रमण के पूर्व ही शत्रु ने शस्त्र डाल दिये हों और स्वतः आकर विजय ध्वजा पताका फहरा दी हो। कमल कोश के सदृश अरुण नेत्रों से वे समुद्र को निहार रहे थे मानों अब तक अमृत न निकलने के कारण उस पर क्रोध कर रहे हों।

वे अपनी विश्व विजयिनी बाहुओं से घमर घमर करके उदधि को उसी प्रकार मथ रहे थे, जिस प्रकार पत्नी के कहीं चले जाने पर पति ही घर के दूध को मथता हो।

भगवान् के मथते ही जल जन्तुओं में हाहाकार मच गया मगर चिल्लाने लगे ! जल सर्प इधर से उधर सर्र सर्र करके भागने लगे, कछुए ऊपर आ गये और कच्छप भगवान् की पीठ को द्वीप समझकर उसके ऊपर बैठकर अपने मुँहों को मटकाने लगे। तिमि तिलिङ्गिल तिमिङ्गिलगिल आदि बड़े बड़े मत्स्य अपने बड़प्पन के अभिमान को भूलकर उस महा कच्छप को

विस्मय के साथ निहारने लगे। दैत्यों के हाथ दुखने लगे। देवताओं ने अपना सब बल छोड़ दिया। हरि के लगते ही वे निश्चिन्त से हो गये। उन्हें अब विश्वास हो गया, कि अब कार्य सिद्धि में कोई संदेह नहीं।

भगवान् जहाँ दो चार कसकर हाथ मारे कि क्षीर सागर के ऊपर काली काली काई अत्यंत तीक्ष्ण गन्ध वाली वस्तु तैरती हुई सी दिखाई देने लगी। सभी उसे छोड़कर हाहाकार करने लगे और वासुकि को छोड़कर देव दैत्य दोनों ही भागकर दूर खड़े हो गये।

छप्पय

अजित उठाई नेति रईकूँ खींचि घुमावें।
कुटिल केश जनु हिलें सर्प सुत शीश डुलावैं॥
पीताम्बर वनमाल श्याम तनुपै सोहैं जनु।
इन्द्र धनुष नभमाहिँ लपेटें विद्युत्कूँ मनु॥
सोहैं अपर सुमेरु सम, गिरिधर गिरिवर ढिंग खड़ैं।
द्वंद युद्ध हित मल्लजनु, कसि कछनी निज प्रन अड़ै॥

———

समुद्र मथने पर सर्व प्रथम विष

(५१६)

निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषम् ,
महोल्वणं हालहलाह्वमग्रतः ।
सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात्—
तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

कसिकें मारे हाथ जीव जलके घबराये ।
मेढ़क मछली मगर मत्स्य ऊपर उठि आये ॥
खलबलाइ सब उदधि जीव चिंघारी मारें ।
विश्वविजयिनी बाहु घुमावें नहिं हरि हारैं ॥
हालाहल सबतैं प्रथम, निकस्यौ विष अति उग्रतर ।
दशहु दिशनिमहँ व्याप्त वह, भयौ भगे सब सुर असुर ॥

संसार में हम सब कर्म करते हैं सुख के लिये किन्तु किसी

❀ श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् के समुद्र मथने पर इस क्षीर सागर से सर्व प्रथम हालाहल नाम का उग्र विष उत्पन्न हुआ समुद्र का जल मथने से मछलियाँ तिलमिला उठीं थीं । मगर सर्प और कच्छप तैरने लगे थे तथा तिमि जलहस्ति, ग्राह और तिमिङ्गिल आदि जलजन्तु व्याकुल हो गये थे ।"

विरले ही काम में विघ्न न पड़ता होगा, नहीं तो शुभ कामों में पग पग पर विघ्न पड़ते हैं। उन विघ्नों के कारण अल्प साहसी पुरुष काम को छोड़ बैठते हैं। किन्तु जो उत्साही कर्मवीर और परिश्रमी भी होते हैं, वे विघ्नों से डरते नहीं। विघ्नों के सम्मुख ताल ठोंक कर युद्ध करने के लिये तत्पर हो जाते हैं। जिस समय वे पुरुषार्थ करने को तत्पर होते हैं, उस समय वे अपने को अजर अमर मान कर कार्य करते हैं, वे प्रतिज्ञा करते हैं सूर्य चन्द्र चाहें विपरीत उदय होने लगें। हिमालय चाहें अपने स्थान ये डिग जाय, समुद्र चाहे सूख जाय, दिग्गज चाहें पृथ्वी को छोड़ दें। सम्पूर्ण प्रकृति चाहें हमारे विरुद्ध क्रान्ति कर दे किन्तु एक जन्म में न सही अनेक जन्मों में हम अपने लक्ष्य को प्राप्त करके ही छोड़ेंगे। ऐसे दृढ़ प्रतिज्ञ पुरुषों के सम्मुख सिद्धि हाथ जोड़े खड़ी रहती है। श्री उन्हें हँस कर वरण करती है, विजय उनके गले में स्वयं जयमाला डालती है समस्त प्रतिकूलताएँ अनुकूल हो जाती हैं। सदा शिव उन विष रूप विघ्नों को पान कर जाते हैं। नील कंठ उननको पेट में पहुँचा कर पचाते नहीं, न मुख से निकालते ही हैं, केवल कंठ में धारण किये रहते हैं। उद्योगी पुरुषसिंह ही लक्ष्मी को मथ कर समुद्र से निकाल सकता है, वह विष से डरता नहीं। प्रलयानल से घबराता नहीं और मृत्यु से भयभीत नहीं होता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! स्वयं साक्षात् सच्चिदानन्द सर्वेश्वर ही नेति लेकर समुद्र को मथने लगे, तब फिर सिद्धि क्यों न हो। इसीलिये सबसे पहिले साधन में काय शुद्धि नाड़ी शुद्धि आदि से अन्तःकरण के मल निकालते हैं। इसी न्याय से सर्व प्रथम समुद्र का मल विष बनकर निकला। क्षीर

सागर के धवल जल के ऊपर वह कालकूट हलाहल अतितीक्ष्ण परम उग्र विष काला काला चारों ओर लहराने लगा। उसकी गन्ध से ही देवता असुर मूर्छित से हो गये। जल जन्तु मरने लगे, दशों दिशाओं में हाहाकार मच गया। ऊपर नीचे इधर उधर चारों ओर उसकी उग्र गन्ध फैलने लगी। सभी प्राणी तिलमिला उठे। देवताओं ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! अब हम क्या करें?"

भगवान् ने कहा—"भैया! हम तो युक्ति ही बताने वाले हैं, करना कराना तुम्हारा काम है।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! कोई युक्ति ही बताइये।"

भगवान् ने कहा—"एक काम करो। यह और किसी के वश की बात तो है नहीं, शिवजी चाहें तो इस विष को पी सकते हैं।"

देवताओं ने कहा—"अजी, महाराज! शिवजी को कोई लड्डू का भोग लगाते हैं, कोई हलुआ खिलाते हैं कोई मलीदा का गोला चढ़ाते हैं, हम उनसे विष पीने को कैसे कहें?"

भगवान् बोले—"अरे, उनके लिये विष अमृत सब समान है। उनका विष क्या बिगाड़ सकता है, नित्य ही आक धतुर खाते हैं, तुम घबड़ाओ मत, जाओ उनके चरणों में। परोप कारियों के पास से कोई निराश नहीं लौटता। विरोधी भी उनसे लाभ उठाते हैं विष देने वाले भी अमृत पाते हैं। यह विघ्न है। अतः विघ्नेश के बाप दर्शन करते ही समाप्त हो, जायगा। देवता असुर दोनों मिलकर उनके चरणों में जाओ निष्कपट होकर उनकी स्तुति करो।"

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर देवता और असुर सब मिलकर भगवान् सदाशिव भोले नाथ के समीप कैलाश में

पहुँचे । वहाँ भगवान् भूतनाथ अपनी प्राणप्रिया सती के साथ बैठे आमोद प्रमोद कर रहे थे कि उसी समय देवता और दैत्यों ने उन्हें लम्बी दंडौत झुकायी सबके सब सन के पौनों के समान पशुपति के पादपद्मों में पट्ट पड़ गये ।

सर्वज्ञ शिव तो समझते ही थे अतः हँसकर बोले—"देवताओ ! दैत्यो ! आज यह किस बात की लम्बी दंडौत हो रही है । आज तुम दोनों एक साथ मिलकर क्यों यह बिलैया डंडौत कर रहे हो ? भैया, बिना किसी गहरे स्वार्थ के ऐसी डंडौत नहीं होती ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी दंडवत् तो सब एक सी ही हैं । इसमें स्वार्थ निस्वार्थ का क्या भेद ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! हैं तो एक सी ही, किन्तु पात्र भेद से उसके प्रकार में भेद हो जाता है । जल तो एक ही सा है उसे सुरा के पात्र में रखो, दुर्गंध वाला हो जायगा, सुगन्धित पात्र में रखो सुगंधित हो जायगा जैसे रंग के काँच के पात्र में जल को रखो वैसा दीखने लगेगा । इसी प्रकार स्वार्थी लोगों की दंडवत बड़ी लम्बी चौड़ी होती हैं । एक अपमान से भी दंडवत होती है । जैसे हिरण्यकशिपु ने वरुणजी से की थी । एक हँसी विनोद में दंडवत होती हैजैसे लोग हँसकर कह देते हैं—"प्रणाम देवताजी । एक शिष्टाचार की दंडवत होती है । दूर से ही कह दिया—'गोड़ छुइं, पाइलगी" आदि और चले गये । एक आँह देखे की प्रणाम होती है अपने कोई पुराने अध्यापक हैं, बड़े हैं । इच्छा नहीं प्रणाम करें । आँख बचाकर निकलना चाहते हैं, किसी प्रकार आँखें ही मिल गई तो हाथ उठाकर शीघ्रता से कह दिया—"प्रणाम पंडितजी" एक भेड़िया-धसान दंडवत होती है । सब लोग किसी के पैर छू रहे हैं

देखा देखी हमने भी छू दिये। एक उल्लू बनाने की डंडौत होती है। साधु पर, ब्राह्मण पर, कोई अच्छी वस्तु देखी। जाकर उनके बड़ी श्रद्धा से पैर छूए, बड़ी भक्ति दिखाई शिष्य ही बन गये। जहाँ वह वस्तु उनसे हथियाई वहीं हँसते हुए भागे और साथियों से गर्व के साथ कहने लगे "कहिये कैसा उल्लू बनाया।" घोर संसारी लोग आकर एकान्त में ज्ञान वैराग्य की बातें छाँटे और कोई रहस्य साधन पूछ कर बहुत श्रद्धा दिखावे तो ऐसे लोगों से साधुओं को सदा सचेष्ट रहना चाहिये। ये आते ही उसके बढ़ते प्रभाव का दुरुपयोग करेंगे या किसी के द्वारा अपना कोई काम करवाने का पत्र लिखने का प्रस्ताव करेंगे या कोई अन्य ही स्वार्थ साधने की घात में होंगे साधु के पैर पूजकर, उसे साक्षात् ईश्वर बताकर, उससे चाहे जो काम करालो। स्तुति से प्रायः सभी पसीज जाते हैं स्वार्थ के प्रणाम से केवल वही कार्य सधता है, यदि निस्वार्थ प्रणाम की जाय तो मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है।

जैसे जप, तप, योग समाधि आदि साधन हैं वैसे ही प्रणाम भी एक साधन है। केवल प्रणाम करने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यह साधन इस प्रकार किया जाता है, कि कूकर, सूकर, गदहा, घोड़ा, ऊँट, बैल, पशु, पक्षी तथा मनुष्यादि जिसे भी देखे, उसी के सम्मुख शरीर दण्ड की भाँति लेटकर प्रणाम करे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! तब तो वह दिन भर प्रणाम ही करता रहेगा।

सूतजी बोले—"महाराज ! यही तो अभीष्ट है, तभी तो चराचर विश्व में वे ही विश्वम्भर व्याप्त हैं; इसका ज्ञान होगा।

धारणा दृढ़ हो जाय, तो शरीर से प्रणाम करना छोड़ कर केवल मन से करे और फिर मन को प्रणाम करते २ प्रणाम में मिला दे। ऐसा यदि एक प्रणाम किया जाय तो वही तार देगा। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बड़ी सरला सीधी शुद्ध अन्तःकरण की बुढ़िया थी उसने एक दिन मंदिर में पंडित से यह श्लोक सुना—

"एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामः
दशाश्वमेधावभृतेन तुल्यम्।
दशाश्वमेधी पुनरेव याति।
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।"

अर्थात् श्रीकृष्ण को एक बार भी प्रणाम करले, तो वह १० अश्वमेध यज्ञ के अवभृत स्नान के तुल्य है किन्तु एक अन्तर है। अश्वमेध करने वाला लौटकर संसार में फिर से आता है किन्तु कृष्ण को प्रणाम करने वाला फिर लौटकर संसार में कभी नहीं आता।"

सुनते ही उसके मन में अत्यन्त ही पश्चात्ताप हुआ—"हाय मैंने कभी भी भक्ति भाव से भगवान् को एक बार प्रणाम नहीं किया। इस भाव के आते ही उसकी आँखें बहने लगी। शरीर पुलकित हो गया, कंठरुद्ध हो गया। शरीर में समस्त सात्विक भावों का प्रादुर्भाव हुआ और उसने अत्यन्त भक्ति-भाव से भगवान् को सर्वांङ्ग प्रणाम किया। दण्ड के समान वह भगवान् के सम्मुख पृथिवी पर पड़ गई। पड़ते ही उसका शरीर छूट गया और वह सदा के लिये संसार बन्धन से छूट गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार श्रद्धा भक्ति पूर्वक बिना कोई स्वार्थ के केवल कृष्ण प्रीत्यर्थ ही जो भगवान् के

चल विग्रह संतो को, अचल विग्रह अर्चा स्वरूपों को या दृश्य-रूप चराचर विश्व को प्रणाम करता है, तो उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। वैसे तो प्रणाम करना सब प्रकार से श्रेष्ठ ही है जो नित्य ही माता, पिता, गुरु तथा वृद्धों को प्रणाम करते है। उनकी आयु बढ़ती है, विद्या बढ़ती है, यश बढ़ता है, और बल की वृद्धि होती है। विपत्ति का नाश होता है।

देवता दानव दोनों ही इस समय विपत्ति में थे। विपत्ति से छूटने का उन्हें यह एक उपाय भगवान् ने बताया कि तुम भगवान् भोलेनाथ की शरण में जाओ। वे ही तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूरा करेंगे।

इसीलिये विचारे स्वार्थ से प्रेरित होकर कैलाश गये और वहाँ जाकर दण्डवत करके शिवजी की स्तुति करने लगे।

छप्पय

हरि बोले हर निकट प्रजापति सँग सब जाओ।
करिकें अनुनय विनय हलाहल उनहि पिआओ॥
शिव सँग विहरैं शिवा प्रेमतैं पुलकित अँग अँग।
पहुँचे विपतैं दुखी प्रजापति सब सत्वनि सँग॥
दंड सरिस सब भुइँ परे, कहहिँ दयानिधि दुख हरहु।
सब जग भयवश अति दुखित, निरभय करुनाकर करहु॥

प्रजापतियों द्वारा महादेव जी की स्तुति

(५२०)

देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन ।
त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद्विषात् ।
त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० २१ ,२२ श्लो०)

छप्पय

शरन तिहारी लई जगतके तुम हो स्वामी ।
अज अच्युत अखिलेश अनामय अन्तरयामी ।
पालन अरु संहार करौ तुमहीं जग रचिकैं ।
तीनिहु कारज करो विष्णु हर विधि वपु धरिकैं ॥
रुंडमाल गलगंग सिर, मस्तक शशि शिव नाम है ।
उमा सहित सर्वेश पद, पदुमनि माँहि प्रनाम है ॥

शरणागत का प्रति पालन करना सबसे श्रेष्ठ धर्म बताया गया है। जो आकर अपना आश्रय ग्रहण करे, दीन होकर सहायता की याचना करे, भयभीत होकर अभय चाहे, उसके दुख

प्रजापति गण श्रीशिवजी की स्तुति कर रहे हैं—'हे देवाधिदेव ! हे महादेव ! हे सर्वभूतात्मन् ! हे भूतभावन ! यह जो कालकूटविष

को दूर करना । उसे निर्भय कर देना यही महान् पुरुषों की महत्ता है। संसार में सभी दुखी हैं, सभी को किसी की सहायता को अपेक्षा है। सभी दुख में दूसरों से आशा रखते हैं। सर्वेश्वर को छोड़कर न कोई स्वतन्त्र है न समर्थ। वे ही सबके स्वामी हैं। अन्य लोग तो स्वयं ही दुखी हैं वे सर्वांश में सबको सुखी नहीं बना सकते। वे दुःख के मूल कारण को नहीं मिटा सकते। उन परात्पर प्रभु की ही शरण में जाने से, उन्हों की स्तुति करने से उन्हीं की महिमा गाने से जीव अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। अतः उनका ही गुण गाना चाहिये उन्हीं की स्तुति करनी चाहिये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब त्रिलोकी के जीव उस हालाहल विष से उद्विग्न हो गये, तो सब मिलकर सदाशिव की शरण गये। तीनों लोकों के कल्याण के निमित्त वे सब सुरासुर, प्रजापति, मनु आदि कैलाश पर्वत पर विराजमान मुनि मण्डली द्वारा माननीय उस परात्पर देवश्रेष्ठ श्री उमापति को सभी लोग दंडवत् करके स्तुति करने लगे।

श्रीशिव के सम्मुख खड़े होकर हाथ जोड़कर गद् गद् कण्ठ से सर्व प्रथम गन्धर्वों के पति प्रभु की स्तुति करते हुए एक स्वर में सब बोले—

हैं तीनों लोकों को भस्म कर रहा है, इससे हमें बचाइये। हम आपके शरणागत हैं। आपही एक मात्र सम्पूर्ण जगत् के ईश्वर हैं तथा बन्धन और मोक्ष के भी ईश्वर है इसीलिये कुशल पुरुष शरणागतों के दुःखों को हरने वाले आप जगत् गुरु को ही सदा पूजते हैं।"

देव देव महादेव, सर्व जगत् रक्षक।
प्रणतपाल प्रभु कृपाल, अन्त विश्व भक्षक।
काल कूट विष महान् हलाहल ज्वालाकुल।
त्रस्त जलजीव कच्छ, सर्प गज तिमिङ्गल॥
वामदेव सद्यो जात, त्राहि त्राहि विश्वनाथ।
तत् पुरुष हर अघोर चरण कमल नवत माथ।
पृथिवी, जल, नभ, प्रकाश वायु आदितव अधीन
मायापति रक्ष रक्ष, उमानाथ हर प्रवीन॥

गन्धर्वों के पश्चात् प्रजापति आगे आये और कहने लगे—प्रभो! आप सर्वव्यापक हैं, आपका ज्ञान स्वतः है, आपको किसी की अपेक्षा नहीं। आप अपनी गुणमयी शक्ति से इस जगत् की उत्पत्ति करते हैं। आपही उत्पन्न हुए जगत् की रक्षा करते हैं और आपही अंत में संहार भी करते हैं। आपही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही महेश्वर हैं तथा आपही सर्वेश्वर हैं।

फिर मनु बोले—"विश्वनाथ! आपही देवता हैं। आपही मनुष्य हैं, आपही पशु, पक्षी, वृक्ष तथा गुल्मलता हैं। आपही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति करने वाले हैं। आपही सबसे गोपनीय, गुह्य रहस्यमय अद्भुत परब्रह्म हैं। आप जगदीश्वर परमात्मा अखिलेश, निरंजन निराकार होकर अपनी अनेक शक्तियों से इस जगत् में भासमान हो रहे हैं।

फिर विद्याधरों के पति बोले—"हे हर! आप वेद के उत्पत्ति स्थान हैं जगत् के मूल कारण आपही हैं। समस्त महत्तत्व हैं, आप ही अहङ्कार हैं, आपही मन हैं, आपही समस्त

इन्द्रियाँ हैं, आपही प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान रूप पंचप्राण हैं; आपही पृथिवी हैं, आपही जल हैं आपही तेज हैं, आपही वायु हैं और आपही आकाश हैं। आपही शब्द हैं, आपही रूप हैं, आपही रस हैं, आपही गन्ध हैं और आपही स्पर्श हैं। आपही काल हैं, आपही संकल्प हैं, आपही सत्य हैं, आपही अमृत हैं और आपही धर्म हैं। यह जो सत्वरज और तम को साम्यावस्था-रूपा मूल प्रकृति है वह आपके ही आश्रित हैं।

इसके अनन्तर श्रेष्ठ ऋषि गण बोले—"हे आशुतोष! देवताओं के हवि पहुँचाने वाले अग्निदेव आपके मुख हैं। यह वसुन्धरा, सप्त सागरा मेदिनी आपके चरण स्थानीय है। सब देवता आपके ही अंश हैं आपका चलना फिरना यही जगत् की गति है। ये जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, तथा ऊपर नीचे जो दश दिशायें हैं वे ही मानों आपके पांच मुखों में दस कान हैं। वरुण देव रसना है। आकाश आपके नाभि स्थानीय है। वायु आपके श्वास प्रश्वास हैं, सूर्य आपके नेत्र हैं. जल आपका वीर्य है। जितने उत्तम, मध्यम, निष्कृष्ट, ऊँच, नीच, छोटे बड़े, मोटे पतले ये जीव हैं, वे ही आपके अहंकार स्थानीय हैं! चन्द्रमा आपका मन है, स्वर्ग आपका सिर है, समुद्र आपकी कुक्षि हैं, समस्त पर्वत समूह आपकी अस्थियाँ हैं। जितनी ओषधियाँ, लता, गुल्म आदि हैं वे सब आपके रोयें हैं। रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र और ओज ये जो आपकी सप्त धातुएँ हैं वे गायत्री, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति त्र्यष्टुप, जगती और अति ये जो सप्त छन्द हैं उनके स्थान में हैं। धर्म आपका हृदय है।

फिर ज्ञानी विज्ञानी ब्रह्मर्षिगण बोले—"प्रभो जिनसे अड़तीस मन्त्रों का समूह उत्पन्न हुआ है वे तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान नामक पाँच उपनिषद् आपके पांच मुख हैं। और हे देव! जो शिव नामक स्वयं प्रकाश परमार्थ तत्व है; वह आपकी उपरतावस्था है।

देवताओं ने कहा—"हे देव! आप शरणागत वत्सल हैं। शरण में आये हुए सभी प्राणियों की रक्षा करते हैं।"

असुरों ने कहा—"प्रभो! आप भेदभाव से रहित हैं। सभी को समान भाव से देखते हैं, निरन्जन, निष्फल और निष्कपट हैं आप समुद्र से निकले विष का पान करें।"

सभी देवता, दैत्य, मनु, प्रजापति, मिलकर शिवजी की स्तुति कर रहे थे। इस पर पार्वती मन ही मन सोच रही थीं कि देखो, ये लोग कैसे स्वार्थी हैं, आज इन्हें विष पिलाना है तो कैसी बढ़ बढ़कर स्तुति कर रहे हैं! जब इनका काम निकल जाता है, तब बात भी नहीं पूछते। मेरे स्वामी को ये मिलकर विष पिलाना चाहते हैं। मैं अपने सन्मुख ऐसा अन्याय न होने दूंगी। भगवान् तो भोलानाथ ही ठहरे जो जैसा वर माँगता है, दे देते हैं। जो जिस वस्तु की याचना करता है, उसे बिना विचारे प्रदान कर देते हैं। पीछे विपत्ति हमें उठानी पड़ती है। एक दुष्ट भस्मासुर ने यही वरदान मांग लिया कि जिसके सिर पर मैं हाथ रख दूं वह मर जाय। अन्त में उसने मेरे ऊपर ही मन चलाया, भगवान् के ही सर पर हाथ रखना चाहा। आज फिर ये सब ऐसा ही प्रस्ताव करने आये हैं। मैं अपने देखते ऐसा अन्याय न होने दूँगी।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! भगवती भवानी यह सोच

ही रही थी कि सर्वज्ञ शिव उनके मनोगत भाव को ताड़ गये अतः उन्हें मधुर वाणी में समझाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हे शम्भो ! सुख, शांति शक्ति सरवसुके दाता।
आशुतोष अखिलेश भवानीपति भयत्राता ॥
कालकूटतैं दुखी विपतितैं नाथ बचाओ।
पान हलाहल करो दुखिनि के दुःख मिटाओ ॥
उमा विचारैं स्वारथी, हैं सबरे ये प्रजापति।
कालकूट विष पान हौं, करन न दुंगी तीक्ष्ण अति ॥

परोपकार का महत्व

(५२१)
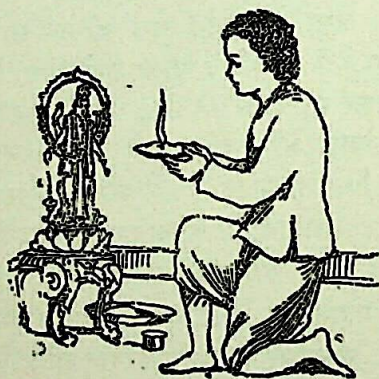
अहो बत भवान्येतत् त्प्रजऋनां पश्य वैशसम् ।
क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितम् ।।
आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयभयं हि मे ।
एतावान् हि प्रभोरर्थोयद् दोनपरिपालनम ।।

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

अन्तर्यामी शंभु उमाके मनकी जानी ।
सती करन संतोष मधुर बोले बानी ।।
प्रिये ! प्रजा अति दुखित परी संकट महँभारी ।
शरणागत प्रतिपाल करनकी बनि हमारी ।।
जीवनिपै किरपा करैं, हरि प्रसन्न तिनपै रहैं ।
पान हलाहल विष करूँ, दुखित होहि ये सब कहैं ।।

यदि संसार में सभी लोग सदा अपने स्वार्थ की ही ओर

देवि ! भवानि ! अरे, देखो क्षीर सागर के मन्थन करने से जो कालकूट विष उत्पन्न हुआ है उसके कारण प्रजाओं के ऊपर कैसी विपत्ति आ पड़ी है। इन सब प्राणों की रक्षा चाहने वाले जीवों को मुझे अभय दान देना चाहिये । दीनों का परिपालन करना यही तो प्रभुओं की प्रभुता है।

दृष्टि रखें, तो तह सम्पूर्ण संसार रौरव नरक बन जाय। संसार में जितने भोगने वाले हैं, उतने भोग्य पदार्थ नहीं। उतने क्या एक पुरुष की तृप्ति के लिये भी संसार के सब पदार्थ यथेष्ट नहीं। जब एक वस्तु की इच्छा करने वाले अनेक हो जाते हैं, तब परस्पर में संघर्ष, राग, द्वेष होने लगता है। एक स्वार्थ के लिये अनेकों झगड़ने लगते हैं, तो परस्पर में मनोमालिन्य हो जाता है। ऐसी दशा में परोपकारी पुरुष अपना स्वार्थ त्याग कर दुखियों का दुख दूर करते हैं। अपने सुख को त्याग कर स्वयं दुःख सहन कर संतप्तों को सुखी बनाते हैं। उन्हीं का जीवन धन्य है। परोपकार ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है। पुरुषों का पुरुषत्व परोपकार में ही। जो स्वार्थी हैं, वे तो पतित जीव हैं परोपकारी हैं, दयालु हैं वे समर्थ शिव हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रजापतियों की प्रार्थना से अप्रसन्न होकर पशुपति की प्राणप्रिया सती जब मन ही मन असन्तुष्ट हो गईं, वे भगवान् भोलानाथ के विष पान करने के प्रस्ताव से अन्तःकरण से कुछ विचलित सी दिखाई दीं तो उन्हें समझाते हुए शिव जी बोले—"देवि! शिवे! सुन रही हो, तुम इन सब लोगों की बातें?"

अनजान की भाँति भगवती सती ने कहा—"क्या बात है महाराज! ये लोग ऐसी लम्बी डंडौत और अनुनय विनय क्यों कर रहे हैं?"

शिवजी ने कहा—"देखो, ये दैत्य और देवता दोनों मिल कर अमृत के लिये क्षीर सागर को मथ रहे हैं। उससे सर्व-प्रथम हलाहल कालकूट विप निकला है, उसी के कारण ये सब दुखी हैं। इन सब लोगों पर इस समय बड़ा भारी संकट आ पड़ा है। इस समय ये सब अत्यंत ही क्लेश में हैं।"

सती जी ने कहा—"तब फिर क्या किया जाय। स्वयं ही तो इन लोगों ने समुद्र को मथा है। जो आ पड़ा है उसे भोगें।"

भगवान् भोलेनाथ ने गम्भीर होकर कहा—"देवि! सब में न तो सब प्रकार के दुखो को सहन करने की सामर्थ्य ही होती है, और न सभी स्वयं आई हुई विपत्ति का प्रतीकार ही कर सकते हैं। संसार में सभी एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। जो श्रेष्ठ हैं सामर्थ्यवान् हैं, उनसे दीन दुखी इस बात की आशा रखते हैं; कि वे हमारे दुःख को दूर करें संकट में सहायक हों। इस समय ये सब अपनी प्राण रक्षा के लिये आतुर हैं। भयभीत होकर मेरी शरण में आये हैं। शरणागत की रक्षा करना श्रेष्ठ पुरुषों का परम कर्तव्य है और शरणागत क त्याग करना महान पाप है। अतः इन सबको मुझे अभय-दान देना ही चहिये।"

सती जी ने कहा—"महाराज, दुखिया लोगों का तो काम ही है आकर रोना धोना।"

भगवान् शंकर गरज कर बोले—"जैसे दुखियों का काम रोना धोना है वैसे ही समर्थ पुरुषों का काम है दीन दुखियों की रक्षा करते रहना।"

सतीजी ने सरलता से कहा—"महाराज! रक्षा करना तो ठीक ही है, किन्तु अपना भी तो कुछ ध्यान रखना चाहिये। प्राण ही न रहे तो परोपकार क्या कर सकेंगे? इसीलिये पहिले अपना उपकार करे तब परोपकार करे। पहिले आत्मा तब पर-मात्मा। शरीर है तो सब है। सर्व प्रथम कर्तव्य तो है प्राणों की रक्षा करके शरीर को निरामय रखकर जो हो सके वह परोपकार करे।"

शिवजी ने कहा "देवि ! जिसे अपने ही प्राणों की चिंता है, वह परोपकार क्या करेगा । अपने आप दुःख उठाकर दूसरों को सुखी बनाया जाता है। प्राणों की बाजी लगाकर भी अन्य जीवों की रक्षा की जाय तो उनका प्राणोत्सर्ग प्राणरक्षा से करोड़ों गुना श्रेष्ठ है। परोपकार का जीवन ही जीवन है। केवल शरीर को पुष्ट करते रहे, इसी क्षणभंगुर नाशवान् देह को ही पालते पोषते रहे तो पशु पक्षियों में और मनुष्यों में अन्तर ही क्या रहा ? जो समर्थ होकर भी शरणागत की रक्षा न कर सका, उसकी सामर्थ्य को, उसके शरीर धारण को धिक्कार है। देखो एक पेड़ पर एक कबूतर रहता था। एक व्याध ने जाल डालकर कबूतरी को फँसा लिया। बहुत से पक्षियों को मारते-मारते उसे रात्रि हो गई। उसी समय वर्षा हुई भूखा प्यासा वह बहेलिया उसी पेड़ के नीचे आकर पड़ गया । जिस पर कबूतर रहता था। अब कबूतर ने सोचा—"यह मेरी शरण आया है मेरा अतिथि है इसका दुख दूर करना चाहिये। जाड़े के दिन थे, बहेलिया भूखा प्यासा तो था ही जाड़े में थर-थर काँप रहा था। उसके पास जाड़े से बचने का उस घोर अरण्य में कोई साधन नहीं था। दया के कारण कबूतर का हृदय भर आया। वह उड़कर कहीं से अपनी चौंच में एक जलती लकड़ी ले आया ऊपर से सूखी सूखी लकड़ियाँ डाली बहेलिये ने उनको जलाया । अपने सम्पूर्ण शरीर को सेक कर स्वस्थ किया । जब उसका जाड़ा छूट गया' तो उसे भूख लगी, कबूतर उसी समय ऊपर से अग्नि में कूद पड़ा और कहने लगा— "मुझे भूनकर खा लो।" सो देवि ! साधुजन परोपकार के लिये प्राणों का मोह नहीं करते। जो जीवन भर प्राणों को ही पोषता रहता है, उसे कौन जानता है। असंख्यों जीव सहस्त्रों

वर्षों तक शरीर को मोटा बना बनाकर मर गये उनका कोई नाम भी नहीं जानता। महाराज शिवि का नाम अमर क्यों है। उन्होंने शरण में आये कबूतर की अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर बाज से रक्षा की। दधीचि मुनि का शरीर चाहे न रहा हो किन्तु उनकी कीर्ति तो सर्वत्र व्याप्त है। देवताओं के उपकार के लिये उन्होंने जीवित ही अपनी अस्थियाँ प्रदान कर दी थीं। महाराज दिलीप ने गौ को बचाने के लिये सिंह को अपना शरीर अर्पित कर दिया। यदि इस नश्वर, क्षणभंगुर, अनित्य शरीर से किसी प्राणी का उपकार हो जाय, यह नाशवान् शरीर किसी के काम में आजाय; तो इससे बढ़ कर इसका और क्या उपयोग हो सकता है।"

सतीजी ने कहा—"भगवन्! जिसने जन्म धारण किया है, उसको एक दिन मरना ही है। आज हमने अपने प्राणों को देकर उसे बचा लिया, तो वह सदा अमर तो रहेगा ही नहीं। मरना तो उसे एक दिन पड़ेगा ही, फिर परोपकार से क्या लाभ? हमने किसी का दुख दूर कर दिया, तो यह तो है ही नहीं कि फिर उसे कभी दुःख हो ही नहीं। वह फिर भी दुखी हो सकता है। फिर हमारे परोपकार से क्या लाभ?

शिवजी ने कहा—"देखो परोपकार तो दूसरों के लिये करते हैं, वे परोपकार का महत्व नहीं समझते। हम दूसरों का क्या उपकार कर सकते हैं? हमें तो अपनी दयावृत्ति को बढ़ाकर अपना ही उपकार करना है, हम संसार में दुःख का अत्यन्ताभाव तो कर ही नहीं सकते। भगवान् की गुणमयी माया से मोहित होकर जीव परस्पर में वैर भाव मानते रहते हैं, दूसरों का दुख पहुँचाने के निमित्त नाना प्रकार के घृणित कार्य करते रहते हैं। ऐसे दया के पात्र जीवों पर जो कृपा करते

हैं। उस कृपा के कारण सबके अन्तः करण में सभान रूप से व्याप्त होने वाले सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं। जिस पर सर्वव्यापक परमात्मा प्रसन्न हैं उस पर मानो चराचर जीव प्रसन्न हैं, क्योंकि चर अचर में वे ही विष्णु विराजमान हैं, जिस पर सर्वात्मा तथा सर्वप्राणी प्रसन्न होते हैं उसे मैं अत्यन्त ही प्यार करता हूँ। जो मेरा प्रिय पात्र है उसे संसार में दुर्लभ क्या है। अतः परोपकार प्रभु प्रीत्यर्थ करना चाहिये। किसी का भी उपकार करे किसी पर भी कृपा करे उस समय यही सोचे मेरे इस कार्य से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हों। यही परोपकार का प्रधान लक्ष्य है। प्राणियों का जिसमें कल्याण हो उसी कार्य को करना समर्थ पुरुषों का कर्त्तव्य है।"

पार्वती जी ने कहा—"तब महाराज! इन सबका क्या करने से कल्याण होगा?"

भगवान् हर ने कहा—"ये सब सागर के निकले कालकूट विष के कारण दुखी हैं, यदि मैं इस विष को पान करलूँ, तो मेरी प्रजाओं का कल्याण हो जायगा। अतः मैं विश्वकल्याणार्थ हालाहल विष का पान करूँगा। इसमें तुम्हारी क्या सम्मति है।"

सतीजी अब क्या उत्तर देतीं। शिवजी ने उन्हें नाना प्रकार के दृष्टान्त देकर परोपकार का महत्व बता दिया था, अब वे सोचने लगीं—"मेरे सर्वज्ञ पति सर्वसमर्थ हैं, यह विष इनका क्या अनिष्ट कर सकता है। इन्हें क्या कष्ट पहुँचा सकता है। इनके श्रीअंग में जाकर यह विष अमृत हो जायगा। शिव के श्रीविग्रह से संसर्ग होते ही सभी शिव स्वरूप हो जाते हैं। यही सब सोच समझकर शिवा बोलीं—"भगवन्! आप सर्वसमर्थ हैं। आपको कोई सम्मति ही

क्या दे सकता है। यदि आपके विष पान करने से इन सब दुखियों का दुख दूर हो सकता है, यदि ये सब संतप्त प्राणी सुखी हो सकते हैं, तो आप लोककल्याणार्थ इस हलाहल का पान कीजिये। आपकी सामर्थ्य से मैं परिचित हूँ, आपका ऐसे असंख्यों विष भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते। जिसमें विश्व का कल्याण हो वही कार्य कीजिये मैं मोहवश आपसे मना नहीं करती।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवती सती के अनुमोदन करने पर भगवान् भूतनाथ उस विष का पान करने के लिए प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

दया धरम को मूल मरम मूरख नहिं जानैं।
छिन भंगुर यह देह अज्ञ अजरामर मानैं॥
शिवको सद् उपदेश सती सुनि दीन्हीं सम्मति।
पान करन विष चले शम्भु मननहँ हर्षित अति॥
व्यापि रह्यो विष जगत्महँ, जीव दुखी सबई रहैं।
पान कर्यो विष शम्भु ने, सज्जन परहित सब सहैं॥

———

विश्वनाथ का विष पान

(५२२)

तत: करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम् ।
अभक्षयन्महादेव: कृपया भूतभावन: ॥

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

लीयो तुरत समेंटि बनायो विषको गोला ।
पान करन हर लगे उमापति शंकर भोला ॥
राम नाम सँग लीलि गरेतैं नाहिँ उतार्यो ।
निगल्यो उगल्यो नहीं कंठमें ही विष धार्यो ॥
जलमल हालाहल हरषि पान सतीपति करि गये ।
कण्ठ नील विषतैं भयो, नीलकण्ठ तबतैं भये ॥

यह संसार रूप समुद्र है, इसमें विष भी है अमृत भी है। प्रशंसा होना, प्रतिष्ठा होना यही अमृत है। निंदा होना अपवाद होना यही विष है। जो सहर्ष विष का पान करता है, निन्दा अपमान को पी जाता है, वही कल्याण स्वरूप है शिव है। जो केवल प्रशंसा के पीछे ही पड़े रहते हैं, निन्दा से डरते हैं, उनमें दो प्रकार के लोग होते हैं; एक सद् दूसरे असद्। एक देव

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भूतभावन भगवान् भव ने सर्वत्र व्याप्त उस हालाहल विष को समेट कर अपनी हथली पर रखकर भक्षण कर लिया।"

दूसरे दैत्य। सद् वृत्ति वाले पुरुष प्रशंसा चाहते हैं; उसके लिये संसार सागर को श्रम करके मथते भी हैं, किन्तु अपना आधार उन अखिलेश्वर को ही मानते हैं। उनपर जहाँ कोई आपत्तिविपत्ति आई कि भगवान् की शरण में जाते हैं। ऐसे शरणापन्न व्यक्तियों की सदा प्रभु रक्षा करते हैं, उन्हें स्वयं मथकर स्वयं असद्वृत्ति वालों से छीनकर अमृत दे देते हैं। प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुंडरीक, व्यास, अम्बरीश, शुक, शौनक, भीष्म तथा दाल्भ्य आदि ऐसे अनेकों भगवत् भक्त हो गये हैं, जिनकी कीर्ति भगवान् की कृपा से संसार में अब तक अक्षुण्ण व्याप्त है। जो असद् वृत्ति वाले पुरुष हैं, पुरुषार्थ तो वे भी करते हैं, अमृत के इच्छुक ये भी हैं, परिश्रम करके वे अमृत को निकाल भी लेते हैं, क्योंकि पुरुषार्थ का फल तो मिलना ही चाहिये, किन्तु प्राप्त करके भी वे उसकी रक्षा नहीं कर सकते। कठिनता से वे परमपद को प्राप्त करके नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि उन्होंने प्रभु के पादपद्मों का आदर नहीं किया, उनका आश्रय नहीं लिया यथार्थ अमृतत्व की प्राप्ति तो अमृत और विष को समान समझने से होती है। जो भी आवे उसे राम का नाम लेकर पी जाय। पत्र पर जिसका नाम लिख देते हैं; वह उसे ही प्राप्त हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं "राजन्! जब सतीजी ने भी विश्वनाथ को विष पान करने की अनुमति दे दी, तब भगवान् भूतनाथ देवता और असुरों के साथ उस स्थान पर आये जहाँ क्षीर सागर के ऊपर विष तैरं रहा था। क्षीर सागर का जल दुग्ध के समान धवल था। उसके ऊपर काला काला हालाहल कालकूट विष तैर रहा था, मानों कीर्ति के ऊपर कलंक उतर रहा हो। शिवजी ने सर्वप्रथम उस विष को

दोनों हाथों से समेटा। समेट कर बाबा भोला ने एक बड़ा भारी गोला बनाया। तब उसे हथेली पर रखकर उस पर राम नाम

अंकित कर दिया। और राम का नाम लेकर उसे गप्प कर गये

उन्होंने उसे पेट के भीतर नहीं जाने दिया कंठ में ही उसे रोके रहे।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! शिवजी ने विष को गले से नीचे क्यों नहीं उतारा? उसे गले में ही क्यों धारण किये रहे?"

यह सुनकर सूतजी ने उत्तर दिया—"महाराज! सज्जन पुरुष पर निन्दा रूप विष को यदि खाकर पचा जायँ, तो उनके मन में भी दोष आ जायगा, क्योंकि कहावत है—"जैसा खाय अन्न वैसा बने मन।" इसलिये शंकरजी ने उसे पचाया नहीं ग्रहण नहीं किया। यदि उसे उगलते हैं—"वाणी द्वारा दूसरों से कहते हैं, तो दूसरों के दोष प्रकट करने वालों को वही पाप लगता है जो करने वालों को लगता है। इसलिये शिव जी ने उसे उगला नहीं—किसी से कहा नहीं—उसे कंठ में ही रोक रखा।"

दूसरा कारण यह भी हो सकता है, कि उनके हृदय में सदा हरि विराजमान रहते हैं। उन्होंने सोचा मैं तो निरन्तर राम नाम रूप अमृत के उच्चारण के उनकी अर्चा करता रहता हूँ, अब इनको विष क्या अर्पण करूं, इसीलिये उन्होंने विष को कंठ के नीचे जाने ही नहीं दिया। कंठ में ही उसे धारण किये रहे और राम राम के उच्चरण से उसे भी अमृत बनाते रहे।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, कि भीतर से किसी की निन्दा करने की भावना उठे भी तो उसे कंठ में आते आते भस्म कर देना चाहिये। श्रेष्ठ तो यही है दूसरों के गुण दोषों का मन से चिन्तन ही न हो। यदि मन में किसी के दोष दीख भी जाय, तो उसे कंठ से ऊपर न आने दे किसी से कहे नहीं।

चौथा करण यह भी जान पड़ता है, कि सब लड़ाई झगड़े कंठ से अर्थात् बोलने से ही होते हैं अतः वाणी के ऊपर रोक रखें। एक राजा के लड़का हुआ। बड़ा सुन्दर, सुशील रूपवान था, किन्तु बोलता नहीं था। राजा ने बहुत प्रयत्न किया मंत्रतज्ञों को दिखाया, चिकित्सकों से निदान कराया किन्तु किसी की बुद्धि में भी उसका रोग न आया। राजा गूंगें पुत्र से निराश हो गये।

एक दिन राजा किसी पक्षी का आखेट कर रहे थे। पक्षी पेड़ की डाली में छिप रहा था। सहसा वह बोल उठा। बोलते ही राजा ने शब्दवेधी बाण मारा और वह मर गया। उसी समय राजपुत्र ने कहा—"मूर्ख ! और बोल। जो बोला वह फँसा।"

राजपुत्र को आज बोलते देखकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने बहुत से दान धर्म कराये और बच्चे से बड़े स्नेह से कहा—"बेटा ! तू अब तक बोलता क्यों नहीं था। तू गूँगा तो था नहीं। जान बूझकर अपनी वाणी को क्यों रोके था ?"

इस पर राजपुत्र ने कहा—"राजन् ! मैं पहिले जन्म में बड़ा शान्त, दान्त, तपस्वी एक मुनि पुत्र था। मैं एकान्त में मौन रह कर घोर तप करता था। मेरी वाणी बड़ी मधुर थी। दैवयोग से वहाँ एक राजा अपने राजकुमार के सहित आखेट के निमित्त आया। उस राजकुमार के बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को देखकर तथा उसके सुन्दरस्वरूप को देखकर मेरा मन उसकी ओर आकर्षित हो गया। मैंने मौन को छोड़कर उससे मीठी बातें की। वह भी मेरी मधुर बातों से मुग्ध हो गया। हम दोनों में मैत्री हो गई। अब मेरा मन तपस्या में नहीं लगता। उस राजकुमार का ही चिंतन करता था। उसी चिंतन में मेरी मृत्यु

हो गईं तपस्या के प्रभाव से मुझे पूर्वजन्म की सब बातें याद हैं। मैं जानता हूँ जो बोला वह फँसा। इसीलिये मैं बोलता नहीं था। देखिये, यह चिड़िया न बोलती, तो क्यों मारी जाती। इसीलिये राजन्! कल्याण की कामना वाले पुरुषों को वाणी के ऊपर संयम रखना चाहिये। कंठ में गोला रख लेना चाहिये, जिससे भगवान् के नाम कीर्तन और गुण कीर्तन के अतिरिक्त कण्ठ से दूसरी कोई भी निन्दा स्तुति की बात न निकले। प्रतीत होता है, शिवजी ने यही सद शिक्षा देने के लिये विष के गोले को कपाट के स्थान में गले में अटका लिया। राम नाम पर तो विष का कुछ प्रभाव पड़ नहीं सकता। अन्य कोई बातें कण्ठ से निकालना भी चाहें, तो वे विष की ज्वाला से बीच में ही भस्म हो जायँ। इसीलिये विष को कण्ठ से नीचे नहीं उतरने दिया।"

शौनक जी ने पूछा—"हाँ, तो फिर क्या हुआ? अब सूत-जी! आगे की कथा सुनाइये।

सूत जी बोले—"महाराज! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक महाराज परीक्षित् को सुना रहे हैं कि राजन्! वह हालाहल विष कैसा भी हो विष ही था। यद्यपि वह शिवजी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता था, किन्तु फिर भी उसने अपना कुछ न कुछ प्रभाव तो दिखाया ही। भगवान् त्रिपुरारी का कण्ठ उस विष के कारण नीला पड़ गया। उसी दिन से शिवजी का नाम नीलकण्ठ हो गया। इसीसे शिवजी को गरमी अधिक लगती है। इसी कारण बरफ में कैलाश पर्वत पर बैठे रहते हैं। शंकर जी को जल-धारा अत्यन्य प्रिय है। जाड़ा हो, गरमी हो शिवजी पर चुल्लूभर जल चढ़ा दो, गाल बजा दो, शिवजी प्रसन्न हो जायँगे। यदि

सहस्र घटों से शिवजी की कोई पूजा करे, तो उसे वे अपना रूप प्रदान कर देते हैं।

गरमी के दिनों में शिवजी का कंठ अधिक सूखता है। इसीलिए गरमी के चार महीने शिवजी के ऊपर जलहरी चढ़ाई जाती है। जिससे आठों प्रहर उनके सिर पर जलधारा पड़ती रहे। जो गरमी के दिनों में शिवजी पर जलहरी चढ़ाते हैं उनपर शिवजी अत्यंत प्रसन्न होते हैं।

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"महाराज ! कण्ठ नीला होने से शिवजी के रूप में तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई।"

शीघ्रता से श्रीशुक बोले—"अजी राजन् ! उन मंगल स्वरूप, सर्वसौन्दर्य के सागर शिव जी के रूप में गड़बड़ ही क्या होनी थी। उन साधु शिरोमणि शंकर के कंठ का वह नीलापन मनोहर अलंकार ही बन गया। उस नीलेपन से उनकी शोभा और बढ़ गई।"

राजा परीक्षित् ने फिर पूछा—"भगवान् ! मुझे एक शंका है। शिवजी तो सदा अखंड समाधि में निमग्न रहते हैं। वे तो एकाग्रचित्त से उन अखिलेश का आराधन करते रहते हैं। फिर वे उस आराधन को छोड़कर विषपान आदि वाह्य वृत्ति वाले कार्यों में प्रवृत्त क्यों हो गये। अपने निजानन्द में निमग्न रहते। दैत्य देवता सब अपना सुलझते। शिव जी ने समाधि छोड़कर इस वाह्य कार्य को क्यों किया ?"

इस पर हँसकर श्रीशुक बोले—"राजन् ! भगवान् की पूजा करना, उनके नाम के गुणों का कीर्तन करना ये सब भगवान् की आराधना कहलते हैं। षोडशोपचारों से की हुई आराधना से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार की

आराधना श्रेष्ठ है। किन्तु इस आराधना से भी उत्कृष्ट एक परमात्मा की परमाराधना है। वह है दूसरों के दुखः से दुखी होना। देखिए राजन्! अपने दुख से तो संसार में सभी दुखी होते हैं। अपने सगे सम्बन्धियों के लिये तो सभी रोते हैं। जो सबके दुःख को समझते हैं संसार में उनकी सर्वश्रेष्ठ आराधना सर्वोपरि है। जो सबमें ईश्वर को देखकर प्राणिमात्र की सेवा करते हैं सबके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं वे समाधि न लगाने पर भी निरन्तर समाधि में मग्न रहते हैं। अर्चाविग्रह की पूजा न करने पर भी निरन्तर जनता रूप जनार्दन की सेवा करते हैं। शिवजी ने विष पान करके कोई बहिर्मुख कार्य नहीं किया। उन्होंने अपनी आराधना को और भी उत्कृष्ट बना लिया।"

राजा ने कहा—"महाराज! इस विषय को विस्तार से समझाइये। अन्ताराधन से परोपकार कैसे श्रेष्ठ है।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"अच्छा, महाराज! सुनिये। मैं इसे भली भाँति समझाता हूँ।"

छप्पय

हृदय माँहिँ हरि बसैं विश्वपति विष नहिँ निगल्यौ।
अघ अंगीकृत त्याग सोचि बाहर नहिं उगिल्यौ॥
दोषनि लेहिं पचाय दोष अपनेमहँ आवैं।
प्रकट दोष यदि करै तुरत निज अंग लपटावैं॥
तातैं कंठहिमहँ धरयौ, हर शोभा अतिशय बढ़ी।
सुनिकें शोभा सुरनि तैं, सुरसरि शिव सिरपै चढ़ी॥

———

परोपकार प्रभुकी परमाराधना है

(५२३)

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमारानं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ७ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

है आराधन श्रेष्ठ त्यागि सब हरि आराधैं ।
जप, तप, पूजा पाठ, योग नियमादिक साधैं ॥
इन सब तैं उत्कृष्ट परम आराधन भारी ।
परदुखमहँ हों दुखी यही पूजा प्रभु प्यारी ॥
समुझैं सब महँ श्यामकूँ, ते ही भक्त अनन्य हैं ।
परकारज हित सहहिं दुख, जगमहँ ते नर धन्य हैं ॥

सब साधनों का मूल्य है सर्वत्र श्रीहरि को ही समझना ।
एक ही श्रीहरि ने अनेक रूप रख लिये हैं । एक ही सुवर्ण के
कनक कुंडल-कंकण, कर्णफूल आदि विविध आभूषण बन गये

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! साधुजन प्रायः दूसरों के
दुःखों से सदा दुखित बने रहते हैं । क्योंकि उन अखिलात्मा श्री
हरि की दूसरों के लिये दुःख उठाना यही सर्वोत्कृष्ट आराधना है ।"

हैं । एक विश्वंभर बहुत हो गये हैं । इसे जिसने तत्वतः, समझ लिया है वही कृतार्थ हो गया है। भय सदा द्वितीय से होता है । एकत्व में भय नहीं जहाँ एकत्व है वहीं प्रेम है और प्रेम ही प्रभु का रूप है। दो दिखाई देने वाले जग दृष्टि से दृष्टि मिलाकर सर्वथा एक हो जाते हैं, वहां प्रभु प्रकट हो जाते हैं। 'यह तेरा यह मेरा' जहाँ यह द्वैत हुआ वहीं कलह, राग, द्वेष, लड़ाई, झगड़े, दुःख, शोक तथा नाना प्रकार के उपद्रव उठ खड़े होते हैं। अतः गुरुदेव सब साधनों को बताते हुए अन्त में कह देते हैं—"हरि घट घट में विराज रहे हैं सब में उन्हीं को देखो । किसी से राग द्वेष मत करो ।" अर्चा विग्रह में हरि व्याप्त हैं, किन्तु वे बोलते नहीं, बड़ी कठिनाई से किसी भाग्य-शाली से बात करते हैं। किन्तु जनता रूपी जनार्दन की सेवा तो उनकी प्रत्यक्ष सेवा है । वहाँ तो पग पग पर संयम और आत्मान्वेषण का अवसर मिलता है, इसीलिये मनीषियों ने इस परोपकार आराधना को परमाराधना कहा है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! तुमने पूछा—समाधि सुख को त्याग शम्भु ने हलाहल पान क्यों किया ? सो, राजन् ! आप बताइये समाधि क्यों लगाई जाती है ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! यह जगत् भूल जाय। संसार के जितने सुख दुःख, पुण्य पाप, धर्म अधर्म आदि द्वन्द हैं ये सब परिणाम में दुःख ही देने वाले हैं समाधि में द्वन्द रहते नहीं। निर्द्वंद होकर निजानन्द में मग्न रहते हैं । आत्मसुख का अनुभव करते हैं।"

श्रीशुक ने कहा—"अच्छा, तो इसका भाव यह हुआ कि यह जो हमें अपने पराये का मिथ्याभिनिवेश हो गया है उसे भूल जाना। यदि हम सम्पूर्ण जगत् को ही उन्हीं श्री हरि का

स्वरूप मान लें, सब में ही उन राधारमण को रमण करता हुआ देखने का प्रयत्न करें, तो फिर आँख खुली होने पर भी समाधि ही है।"

राजा बोले—"महाराज यह कैसे हो सकता है ?"

श्रीशुक बोले—"यह इस प्रकार होता है, कि हम पराये पन का भाव त्याग दें पराया कोई है ही नहीं जिन्हें पर कहा है वे अपने हैं, जैसे अपने पैर में काँटा चुभने से कष्ट होता है, वैसे ही हम दूसरं के कष्ट को भी अपना ही अनुभव करें। जैसे हम अपने ऊपर दुःख आने पर दुखी होकर उसके निवारण की चेष्टा करते हैं वैसे ही दूसरों के दुखों को अपना दुःख समझ कर उनके निवारण के लिये प्रयत्न करें। यही सर्वत्र श्री हरि को देखने का साधन है।"

राजा ने पूछा—"तो भगवन् ! यह श्रीहरि की आराधना तो हुई नहीं। यह तो परोपकार, पुण्य पाप का कार्य हुआ। पुण्य कार्य का फल है स्वर्ग। स्वर्ग भी नाशवान् है। फिर परोपकार प्रभुकी परमाधना कैसे हुई ?"

श्रीशुक ने कहा—"राजन् ! आप ध्यान से इस बात पर विचार करें जब हम दूसरों के दुःख में दुखी होंगे और उन दुःखों के निवारण के लिये प्रयत्नशील होंगे, तो सर्वत्र उन श्री हरि को ही अनुभव करेंगे। ऐसे करते करते हमारा निज-पन परायेपन का भाव हटाता जायगा। भगवान् का यहं जगत् रूपी वैसे ही है जैसे पितारूप पुत्र है। आप कोई वस्तु पिता को दें तो उसे उतनी प्रसन्नता न होगी जितनी पुत्र को देने पर होगी। इस प्रकार भगवान् अपनी पूजा से उतने प्रसन्न नहीं होते जितने अपने स्वरूप जनता की सेवा से प्रसन्न होते

हैं। इसीलिये जप, तप, पूजा पाठ आदि भगवान् की आराधना है तो जनता रूपी जनार्दन की सेवा करना परमाराधना है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जनता की सेवा करने वालों के ऊपर भगवान् इतने प्रसन्न क्यों होते हैं ?"

इसपर सूतजी बोले—"देखिये महाराज ! कोई राजा है. वह खेल खेल रहा है। एक व्यक्ति ने जाकर उसके खेल के मंच को सुन्दर बना दिया। वहाँ के फूलों को पानी देकर छाँट कर स्वच्छ कर दिया झाड़ू लगा दी। एक दूसरा है वह जब भी राजा निकलता है उसे झुक झुक कर प्रणाम करता है उसके पैर छूता है, उसके सम्मुख नीचा सिर किये खड़ा रहता है, तो बुद्धिमान राजा खेल की साजों के सजाने वाले पर अधिक प्रसन्न होगा या प्रणाम करने वाले पर ? कहना पड़ेगा कि जो उसके खेल में सहयोग दे रहा है उसे भाँति भाँति से सजा बजा-कर सुन्दर बना रहा है, उस पर प्रणाम करने वाले की अपेक्षा अधिक प्रसन्न होगा। इस विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त सुनिये।

एक दिन बहुत से भक्त एक मन्दिर में शम्भु कीर्तन कर रहे थे । बहुत से पूजन कर रहे थे, बहुत से निराहार व्रत रख-कर शिवजी की आराधना कर रहे थे। भक्तों की भीड़ थी। उनमें एक ऐसा भी व्यक्ति बैठा था जो शिवजी के श्री विग्रह की सेवा तो कर नहीं रहा था, निरन्तर जनता के सुख की बातें सोच रहा था । किस प्रकार प्राणियों का भला हो, इन्हीं विचारों में निमग्न था । जितनी उसकी शक्ति थी, सामर्थ्य थी, उसके अनुसार दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिये सदा प्रयत्नशील भी रहता था। इतने में ही सबने देखा ऊपर

से एक विमान उतर रहा है। उसमें धर्मराज के प्रधान मुनीम उसमें चित्रगुप्तजी बैठे हैं और लेखनी से कुछ लिख रहे। हैं उतर कर वे नीचे आये भक्तों ने विमान घेर लिया। किसी ने पूछा—"देव ! आप यह क्या लिख रहे हैं ?"

चित्रगुप्त ने कहा—"मुझे भगवान् की आज्ञा है कि मैं उन लोगों का नाम लिखूँ, जो भगवान् से प्रेम करते हैं।"

यह सुनते ही सब दौड़ पड़े। कोई कहता—"हम भगवन् से बहुत प्रेम करते हैं। कोई कहता हम उनके ही नाम का जप कर रहे हैं। कोई कहता—हम उनका ही नाम लेकर कीर्तन कर रहे हैं, नाच रहे हैं, गा रहे हैं, बजा रहे हैं। कोई कहता—"हम तो उन्हीं के प्रेम में निमग्न हुए यहाँ बैठे हैं। हमारा नाम अवश्य लिख लें।"

इतने में ही वह परोपकारी व्यक्ति आया और बोला—"देव ! आप मेरा नाम तो इस सूची में लिखें नहीं। मैंने तो भगवान् को देखा ही नहीं। जब देखा ही नहीं तब मैं अपनी बुद्धि से उनसे प्रेम करने में असमर्थ हूँ। मुझे तो उनकी रची यह सृष्टि दीखती है। मैं तो जनता के रूप में ही जनार्दन को जानता हूँ। मैं इन जीवों से प्रेम करता हूँ।"

चित्रगुप्तजी ने कहा—"भाई, न तो हम किसी के कहने से किसी का नाम लिख सकते हैं और न किसी के कहने से काट ही सकते हैं। हमें तो जो उचित प्रतीत होगा लिखेंगे।" यह कहकर वे नाम लिखकर चले गये।

दूसरे दिन फिर वहीं भक्तों ने उसी विमान को उतरते हुए देखा। आज चित्रगुप्त जी कुछ लिख नहीं रहे थे। लेखनी उनके कान में खुरसी हुई थी। वे एक बही को लेकर पढ़ रहे थे।

जब उनका विमान नीचे आया तो भक्तों में से एक ने पूछा—"देव ! आप क्या पढ़ रहे हैं ?

चित्रगुप्तजी ने कहा"भाई, मैं उन लोगों का नाम पढ़ रहा हूँ, जिन्हें भगवान् प्रेम करते हैं।"

सभी बड़ी उत्सुकता से आये और पूछने लगे—"हमारा नाम है क्या ? क्या भगवान् हमें प्यार करते हैं ?

जो परोपकारी सज्जन थे उन्होंने तो सोचा—'मेरा नाम तो इस सूची में होगा ही नहीं। क्योंकि मैं जनता को प्यार करता हूँ ।"

भक्तों के आग्रह से चित्रगुप्त उस सूची को पढ़ने लगे। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, सर्वप्रथम उस जन-सेवक का नाम उस सूची में था।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इसलिये सेवक का धर्म सर्व-श्रेष्ठ कहा गया है। सेवा करते हुए सेवक को यह अभिमान न हो, कि मैं दूसरों का भला कर रहा हूँ। मेरे द्वारा इतने लोगों का उपकार हो रहा है । यही सोचे—"मैं प्रभु की सेवा कर रहा हूँ। अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ। करने कराने वाले तो वे श्री हरि ही हैं । सो, महाराज ! शिवजी ने विष पान करके परोपकार की महत्ता बताई, उपासना का उत्कृष्ट आदर्श साधकों के सम्मुख रखा।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् भगवान् भवानीनाथ के इस अद्भुत कार्य को देखकर और सबकी कामना पूर्ण करने वाले देवाधिदेव महादेव का निस्वार्थ त्याग देखकर समस्त प्रजा, श्रद्धा, मैत्री, दया, शांति, तुष्टि, पुष्टि क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री, मूर्ति, स्वाहा, स्वधा ये सब सतीजी की बहिनें अपने बहनोई के इस कर्म की

भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगीं। अपनी बहिन को ऐसे समर्थ पति पाने के उपलक्ष में साधुवाद देने लगीं। ब्रह्माजी अपने चारों मुखों में अत्यन्त हर्ष के साथ साधु साधु कहने लगे। विष्णु भगवान् भवानीपति की प्रशंसा करते करते अघाते नहीं थे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् विष पान करते समय भूल से भोलेनाथ के हाथ से कुछ विष गिर गया। जिसे साँप विच्छू, बर्र ततैया आदि विषैले जीवों ने तथा संखिया, कुचिला मांठा आदि विषैली औषधियों ने ग्रहण कर लिया। इससे इनके काटने तथा भक्षण करने से प्राणी मर जाते हैं। जब विष को शिवजी पी गये, तो फिर भगवान् की आज्ञा से समुद्र मथा जाने लगा। अब तो उसमें से रत्न निकलने लगे।

छप्पय

फैली जगमहँ बात शम्भु हालाहल पीयो।
दुखी प्रजा को कष्ट वृषभध्वज सब हरि लीयो॥
साधु साधु सब कहैं विष्णु, विधि शिव यश गावैं।
दुंदुभि॰ नभतैं बजैं सुमन सुरगन बरसावैं॥
हर भोलाकी भूलतैं, गोलातैं कछु विष गिरयो।
सो अहि, बिच्छू, औषधिनि, थावर जंगम विष करयो॥

क्षीर सागर से रत्नों की उत्पत्ति

(५२४)

पीते गरे वृषङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः ।
ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत् ॥
तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः ।
यज्ञस्य देवयानस्य मेध्याय हविषे नृप ॥*
(श्री० भा० ८ स्क० ८ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

शिव पीयो विष सिंधु सुरासुर मथिवे लागे ।
कामधेनु पुनि प्रकट भई रत्ननितैं आगे ॥
अग्निहोत्र के हेतु सुरभि मुनिगन स्वीकारी ।
उच्चैःश्रवा महान् अश्व फिरि प्रकट्यो भारी ॥
घोड़ा राजा बलि लयो, पुनि ऐरावत गज भयो ।
सो वाहन देवेन्द्र को हरि अनुमतितैं ह्वै गयो ॥

जिसमें स्वच्छता हो, कान्ति हो, पवित्रता हो, तेज और

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब श्री शङ्करजी ने विषका पान कर लिया तो देवता दैत्य अत्यन्त प्रसन्न होकर बड़े वेग से पुनः समुद्र को मथने लगे, तब उससे फिर कामधेनु गौ उत्पन्न हुई । उसे ब्रह्मवादी अग्निहोत्री ऋषियों ने ले लिया । क्योंकि वह घृतादि अग्नि होत्र की वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली थी ब्रह्मलोक के मार्ग स्वरूप यज्ञादि में उपयोगी हवि के लिये ग्रहण किया ।"

ओज हो, उसी की रत्न संज्ञा है। रत्नों में श्री का निवास है। संसार में ९ रत्न प्रसिद्ध हैं, धेनुरत्न, तुरंगरत्न, गजरत्न, वनस्पतिरत्न, स्त्रीरत्न, मणिरत्न, धनरत्न, वारुणीरत्न। इन सब में श्री का निवास है। ये सब रत्न प्रयत्न से पुरुषोत्तम का आश्रय ग्रहण करने से प्राप्त होते हैं। उद्योगी पुरुष सिंह ही लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है, उद्योग करने पर भी सफलता श्री हरि के हाथ में है, अतः प्रयत्न करते हुए हरि को सदा स्मरण बनाये रखना चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शिवजी के विष पान कर लेने से विपत्ति टल गई। सभी को सन्तोष हुआ, सभी की चिन्ता दूर हुई। अब सभी पुनः नवीन उत्साह, नूतन स्फूर्ति के साथ फेंट बाँध-बाँधकर पूरी शक्ति के साथ बड़े वेग से समुद्र को मथने लगे। दही को मथते समय जब तक ताव नहीं आता तब तक मक्खन निकलने में देर होती है। ताव आ जाने पर एक बार मक्खन निकलने पर फिर तो जहाँ दो हाथ मारे नहीं कि शीघ्र-शीघ्र मक्खन निकलने लगता है। इसी प्रकार विष के निकलने से अब तो ताव आ गया तुरन्त ही सुन्दर मुड़े हुए सींगों वाली लम्बी पूँछ वाली अत्यन्त ही दर्शनीय कामधेनु गौ उत्पन्न हुई?"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! तो क्या इससे पहिले गौएँ नहीं थीं?"

सूतजी ने कहा—"थीं क्यों नहीं, अवश्य थी, किन्तु दुर्वासा के शाप से गौओं की भी श्री नष्ट हो गई थी। वे दुबली पतली दूध न देने वाली, श्री हीन हो गई थी। देवता और दैत्यों के उद्योग से सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु उत्पन्न हुई। जिसके सुन्दर स्वच्छ हृष्ट पुष्ट गौ है

उसे किस वस्तु की कमी है ब्राह्मणों की श्री यज्ञ और तप है घी से यज्ञ होते हैं घृत, दुग्ध दधि आदि से यज्ञों में प्रायश्चित शुद्धि होती है, गौ के गोबर, गोमूत, गोघृत, गोदधि और गोदुग्ध से। जब गौओं का तेज ही नहीं रहा, तो ब्राह्मण भी तेजो हीन हो गये। उन सबका तेज पुञ्जीभूत होकर पुनः समुद्र से निकला वह समस्त ब्राह्मी श्री का प्रदान करने वाला तथा गौरूप में समुद्र से निकाला था। इसीलिये गौ को सर्व-श्रेष्ठ रत्न कहा है। ४ पैर की सुन्दर सुहावनी दर्शनीय गौ को देखकर अग्निहोत्री मुनियों का मन ललचा गया। उन्होंने सोचा—"यह गौ जो हमें मिल जाती तो हमारे समस्त मनोरथ पूर्ण हो जाते। यह अग्निहोत्र की सामग्री उत्पन्न करने वाली है ब्रह्मलोक के माँग स्वरूप यज्ञादि में उपयोगी घृत, दुग्धादि इसी से उत्पन्न होते हैं, अतः यह हमारे, तेज, तप और ओज को बढ़ाने वाली होगी।

गौ के निकलते ही हल्ला मचा इसे कौन लेगा। यह किसके भाग में आवेगी। इसपर भगवान् बोले—"देखो, तुम लोग दोनों ही कश्यप मुनि की संतान हो, दोनों ही धर्म के मर्म को भली भाँति जानते हो, दोनों ही गौ के ब्राह्मणों के भक्त हो। शास्त्रीय नियम ऐसा होता है कि अपने घर में जो अन्न हो, फल हो अथवा कोई भी सर्वप्रथम वस्तु आवे उसे पहिले ब्राह्मण को दान दे देनी चाहिये। सभी शुभ कर्मों के पूर्व गौदान करना चाहिये। तुम लोग अमृत के निमित्त समुद्र मन्थन रूप महान कार्य कर रहे हो। इसीलिये दोनों मिलकर इस सबसे पहिले निकले रत्न को ब्राह्मणों को दान दे दो। ब्राह्मणों के सन्तुष्ट होने पर इसमें शीघ्र एक से एक अनुपम सुन्दर रत्न निकलते रहेंगे।"

भगवान् की यह सम्मति सुर असुर दोनों को ही अच्छी लगी क्योंकि दोनों ही अग्निहोत्र करते थे दोनों ही ब्राह्मणों को मानते थे दान देते थे। अतः दैत्यों की ओर से राजा बलि ने और देवताओं की ओर से देवेन्द्र ने कामधेनु की पूँछ पकड़ी। वेद वादी ब्राह्मणों ने विधि विधान पूर्वक संकल्प पढ़ा और उस गौदान को ग्रहण कर लिया।"

अब फिर समुद्र मथा जाने लगा। अब के एक बड़ा ही सुन्दर दर्शनीय उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा उत्पन्न हुआ। वह अत्यन्त ही हृष्ट पुष्ट और मनोहर था। चन्द्रमा के समान उसका श्वेत वर्ण था वह चंचल दृष्टि से गले के बालों को हिला हिलाकर इधर उधर देख रहा था। देवताओं ने सोचा—"यह तो हमें मिल जाय। इधर असुर राज बलि उसके ऊपर निकलते ही लट्टू हो गये। वे निर्भीक होकर बोले—"इस घोड़े को तो हम लेंगे।"

भगवान् ने तो पहिले ही देवताओं को सिखा पढ़ा दिया था, कि तुम किसी वस्तु के लिये लोभ मत करना, लड़ाई झगड़ा मत मचाभा इसीलिये देवेन्द्र ने कहा—"अच्छी बात है, इसे आप लेलें। आप बड़े हैं। बड़ी वस्तु बड़ों के ही लिये उपयुक्त है।" इस प्रकार वह घोड़ा विरोचन के पुत्र असुर राज बलि के भाग में आया। समुद्र पुनः मथा जाने लगा।

इतना सुन्दर घोड़ा निकलने से सभी का उत्साह बढ़ गया था। सभी किसी अनुपम वस्तु के लोभ से पुनः पूरी शक्ति लगाकर मन्थन कार्य करने लगे। कुछ ही काल में क्या देखते हैं, कि समुद्र में से बड़े बड़े चार दाँतों वाला कैलाश शिखर के समान डील डौल वाला श्वेत रंग का ऐरावत नाम का गजराज उत्पन्न हुआ। उसकी कान्ति अनुपम थी। मन्दराचल के

समीप खड़ा वह ऐसा प्रतीत होता था। मानो श्वेत गिरि का सुत गिरिराज मन्दराचल के निमित्त कुछ संदेश लेकर आया हो उसे देखकर इन्द्र का मन उसके ऊपर अत्यन्त ही लुभायमान हो गया। भक्तवत्सल भगवान् उसके भाव को समझ गये और बोले—"भाई, यहाँ तो बराबर को बँटवारा है। एक वस्तु बलि ने लेली अब इसके न्यायतः अधिकारी देवेन्द्र हैं।"

दैत्यों ने इस बात में आपत्ति नहीं की। इन्हें रत्नों की तो कुछ कमी थी ही नहीं। देवता अमृत के लिये समुत्सुक थे। अतः उन्होंने कह दिया—"हाँ यह उचित ही है इसे शचीपति इन्द्र ही लेलें।' उसी दिन से ऐरावत इन्द्र का वाहन बना।

समुद्र पुनः मथा जाने लगा। अब के एक बड़ी ही चमचमाती, दशों दिशाओं को अलौकित करती हुई कौस्तुभ नाम की पद्मरागत् मणि उत्पन्न हुई। उस पर भगवान् का भी मन चला गया। उन्होंने सोचा जब लक्ष्मी जी आवेंगी तो उन्हें मेरे हृदय के अतिरिक्त कोई स्थान प्रिय न होगा। अतः उनके बैठने के लिये आसन भी तो चाहिये। मणि में लक्ष्मी का निवास है। इसीलिये धनिक श्रीमान् पुरुष कंठ में मणियों की माला धारण करते हैं। यही सब सोचकर भगवान् बोले—"देखो, भाई सब लोग अपनी अपनी रुचि की वस्तु लेते जाते हैं। हम तो कुछ बोलते चालते नहीं। तुम सब देख ही रहे हो, परिश्रम हमने भी किया। हम माँगते तो कुछ हैं नहीं किन्तु नियमानुसार अब के हमारी बारी है। फिर आप लोग जैसा उचित समझें।"

भगवान् की ऐसी घुमाव फिराव की बातें सुनते ही सब समझ गये कि इस कौस्तुभमणि को श्यामसुन्दर लेना चाहते

हैं । अतः सबने एक स्वर में कहा—"हाँ, प्रभो ! यह मणि आपके ही उपयुक्त है । हम सब हृदय से सहमत हैं आप इस मणि को अपनाइये । इसे अपने वक्षःस्थल में धारण कीजिये ।" सबके कहने से भगवान् ने उसे अपने वक्षःस्थल में विभूषित करने के निमित्त धारण कर लिया ।

एक के पश्चात् एक सुन्दर रत्न उत्पन्न होते हैं इससे सब का उत्साह सैकड़ो गुणा बढ़ गया । सब बिना विलम्ब के क्षीर सागर को मथने लगे । तदनन्तर लहलहाता हिलता हुआ, सुन्दर पत्तों वाला कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ उस पर पुष्प लगे थे योजनों उसकी गंध जा रही थी उसके उत्पन्न होते ही वह सम्पूर्ण स्थान सुवासित हो उठा । अब दोनों में वाद विवाद उठ खड़ा हुआ इसे कौन ले ।"

तब भगवान् अजित बोले—"देखो, भाई ऐसी वस्तु किसी एक की न होनी चाहिये । इसे पंचायती मान लो । यह स्वर्ग पर जिसका भी अधिकार रहे वही इसका भी स्वामी माना जाय । स्वर्ग में जाने वाले स्वर्गीय पुण्यात्मा प्राणियों की समस्त कामनाओं को यह संकल्प मात्र से पूर्ण किया करे । बोलो, हमारा यह प्रस्ताव आप सब लोगों को स्वीकार है ?"

सब ने एक स्वर से कहा—"हाँ महाराज ! स्वीकार है ।" विवाद समाप्त हुआ कल्पवृक्ष स्वर्ग भेज दिया गया ।

फिर समुद्र मथा जाने लगा । अब के उसमें से बड़ी सुन्दर सुकुमाराङ्गी, यौवन के मद में मदमाती, सबके मनको मथती हुई वस्त्राभूषणों से अलंकृत बहुत सी अप्सरायें उत्पन्न हुईं । उनकी चितवन में मादकता थी, वे हास विलास पूर्ण चंचल दृष्टि से लज्जा सहित देवता दैत्यों को निहार रहीं थीं । उनकी गति मनोहर और आकर्षक थी । वे स्वर्गीय ललना मूर्तिमती

प्रसन्न ही दिखाई देती थीं। उन्हें देखकर तो देवता दैत्य सभी भौंचक्के से हो कर सब काम छोड़कर उन्हें ही देखते के देखते रह गये। समुद्र मन्थन का कार्य बन्द हो गया। भगवान् ने सोचा—"यह स्त्री रत्न विचित्र निकला इसने तो सब गुड़ गोबर कर दिया। हमारा खेल ही बिगाड़ दिया। प्रतीत होता है इनके ही निमित्त देवासुर संग्राम छिड़ जायगा। अतः देश काल को जानने वाले श्री हरि बोले—"देखो, भाई, स्त्री रत्न सबसे श्रेष्ठ रत्न है। गौ पूंछ पवित्र मानी गई है, बकरी के कान, इस प्रकार किसी का कोई अंग पवित्र होता है किसी का कोई। किन्तु स्त्री सर्वाङ्ग पवित्र है। ये निर्दोष हैं। इनका दर्शन मंगल देने वाला है, इसीलिये ये मंगल मुखी कहलाती हैं। नीतिकारों ने तो यहाँ तक कहा है—"स्त्री रत्न दुष्कुलादपि' स्त्री रत्न यदि दुष्कुल में उत्पन्न हो तो उसे भी ग्रहण कर लेना चाहिये। ये मानवीय स्त्रियाँ न होंगी ये स्वर्गीय ललना कहलायेंगी। इनसे स्वर्ग की शोभा बढ़ेगी। ये किसी एक की सम्पति न समझी जायँगी। इन पर स्वर्गीय पुण्यात्मा पुरुषों का समान अधिकार होगा। सभी स्वर्ग के निवासी इनका उपभोग कर सकेंगे। फिर भी इनकी पवित्रता में कोई दोष न आवेगा इनके लिये कोई भी आग्रह मत करो कि ये हमारी ही होंगी।"

भगवान की इस बात से सभी सन्तुष्ट हो गये असुर तो समझते थे, हम सदा स्वर्ग के स्वामी बने रहेंगे। तब ये हमारे ही काम में आवेंगी। देवताओं ने भी आपत्ति नहीं की।

सूतजी कहते —"मुनियो इस प्रकार ६ रत्न उत्पन्न हो गये। समुद्र का मन्थन अमृत के लिये चालू ही था।

छप्पय

पुनि कौस्तुभमनि भई चित्त चित्तचोंर चलायौ।
रत्न अमोलक निरखि हरषि श्रीहरि हथियायौ॥
कल्पवृक्ष सुरवधू' भईं सुर असुर सिहाये।
सार्वजनिक करि दईं, सुनत सबई हरषाये॥
सुरललना 'गति ललित अति, चुभी चित्त चितवन चपल।
पठईं हरि सुर पुर तुरत, लखि सुर असुरनि कूँ विकल॥

समुद्र से लक्ष्मी जी की उत्पत्ति

(५२५)

ततश्चाविरभूत्साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्यु त्सौदामिनी यथा ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

पुनि प्रकटीं प्रभुप्रिया रमा निज शोभा बिकसित।
विधुवत् शुभ्र प्रकाश करत जगकूँ अनुरञ्जित ॥
यौवन रूप सुवर्ण भाव गुण महिमा अनुपम।
सुर, नर, किन्नर, असुर भये लखि सबई जड़ सम ॥
करैं भेंट बहुमूल्य मिलि, रमा-प्रेम महँ सब पगे।
लैवे की इच्छा भई, सेवा सब करिबे लगे ॥

संसार में ऐसा कौन है, जो ऐश्वर्य, तेज, यश, शोभा ज्ञान और वैराग्य रूप सम्पत्ति को न चाहता हो। श्री के सभी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इसके अनन्तर भगवत् परायणा साक्षात् श्री लक्ष्मी देवी क्षीर सागर से उत्पन्न हुईं वे अपनी कान्ति से दशोंदिशाओं को उसी प्रकार अनुरञ्जित कर रही थीं, जिस प्रकार सुदामा गिरिपर दमकने वाली दामिनी दिशाओं को प्रकाशित करती है।"

इच्छुक हैं। श्री हीन व्यक्ति संसार में कुछ कर नहीं सकता। श्री के अनेक रूप हैं ब्राह्मणों के यहाँ वह ब्राह्मी श्री के रूप में रहती है। क्षत्रियों के यहाँ वह राज्य श्री के रूप में निवास करती है। वैश्यों के यहाँ व्यापारादि में वह लक्ष्मी रूप से विराजती है। शूद्रों के यहाँ वह सेवा रूप से दर्शन देती है। कहीं कान्ति, कहीं शोभा, कहीं समृद्धि, कहीं उन्नति आदि उनके रूपों में उसके दर्शन होते हैं। जो भगवान् को छोड़कर केवल लक्ष्मी को ही चाहते हैं उनकी ही आराधना करते हैं, वहाँ वे जाती तो हैं, किन्तु वे मन से जाती हैं पाने वाले को शान्ति न होकर उनसे अशान्ति ही होती है। वहाँ वे अपने प्रियतम का तिरस्कार देख कर अधिक टिकती भी नहीं। अतः जो अकेली लक्ष्मी पर मन चलावेंगे, उनकी ही अनुनय विनय करेंगे लक्ष्मी उनकी ओर देख तो देंगी किन्तु उनका वरण न करेंगी। क्योंकि वे स्वर्गीय सुरवधुओं की भाँति तो हैं नहीं, वे तो श्री हरि की अनन्या हैं। भगवान् को छोड़ कर वे कहीं अन्यत्र रह नहीं सकती। यद्यपि वे एक रूप से चंचला बनकर संसार में घूमती रहती हैं; किन्तु एक रूप से श्रीनिवास के चरणों में नित्य निवास करती हैं। जो उनके पति से प्यार करते हैं, उनके उन्हें अधीन रहना पड़ता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो श्री छाया की भाँति भगवान् के साथ रहती हैं, अबके मथने पर समुद्र से वे विष्णु वल्लभा श्री उत्पन्न हुईं।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! आप कहते हैं लक्ष्मी जी कभी श्रीहरि से पृथक् ही नहीं होती। वे छाया की भाँति सदा श्रीहरि के संग ही रहती हैं। फिर आप कह रहे हैं

वे समुद्र से उत्पन्न हुईं । हमने तो सुना था लक्ष्मीजी भृगु की पुत्री हैं । इसका क्या तात्पर्य ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! इसका उत्तर तो मैं पहिले ही दे चुका हूँ । लक्ष्मी जी तो भगवान् की नित्य सहचरी हैं, वे तो कभी भगवान् को पल भर को भी नहीं छोड़ती उनका उत्पन्न होना केवल उपचारमन्य है । जैसे प्रातः काल हम कहते हैं सूर्य उदय हो गया । आप ध्यान से सोचे, सूर्य का क्या उदय होना । सूर्य तो कभी अस्त होता हो नहीं वह तो सदा उदित ही रहते हैं । सुमेरु की छाया होने से हमें दिखाई नहीं देते तो हम कहने लगते हैं सूर्य अस्त हो गये । जब दिखाई देने लगते हैं, तो कह देते हैं उदय हो गये । इसी प्रकार लक्ष्मी जी हम संसारी लोगों की दृष्टि में कुछ काल के लिये अदृश्य सी हो जाती हैं, तो हम कहते हैं अब श्री नष्ट हो गई । फिर वे प्रकट होती हैं तो हम कहते हैं उत्पन्न हो गई । अनेक कल्पों में श्री अनेक स्थानों से उत्पन्न होती हैं । कभी वे भृगु के यहाँ भी पुत्री होकर प्रकट हुई थीं । कभी कमल से ही उत्पन्न हुई थीं । इसीलिये उनका नाम कमला पड़ा । कभी शिव की शक्ति उमा के अंश से उत्पन्न होती हैं और कभी समुद्र से भी उत्पन्न हो जाती हैं । उनका उत्पन्न होना एक क्रीड़ा मात्र है ।" दुर्वासा के शाप से लक्ष्मी जी समुद्र में अदृश्य हो गई थीं । अजित भगवान् को विवाह करना था । लक्ष्मी जी तो उनकी नित्य सहचरी हैं, उन्हें छोड़कर वे किसी अन्य से विवाह करना नहीं चाहते इसीलिये भगवान् ने अमृत का लोभ देकर देवता दैत्यों से समुद्र मथवाया । हाथी घोड़ा देकर दोनों को सन्तुष्ट कर दिया । अप्सराओं को तथा कल्पवृक्ष को सार्वजनिक पंचायती वस्तु बना दिया । कौस्तुभ मणि को स्वयं कह

सुनकर ले लिया। अब निकली लक्ष्मी जी। वे तो अपनी वस्तु ही थी इसलिये भगवान् कुछ भी नहीं बोले कि ये किन के भाग में आवेंगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब विद्युत् के समान अपने वस्त्राभूषणों की चमक दमक से दशों दिशाओं को अपनी अनुपम आभा से अनुरञ्जित करती हुई भगवती लक्ष्मी देवी निकलीं तो उनके दर्शन मात्र से ही सब के मन मुग्ध हो गये। सभी उन्हें अनुराग भरी दृष्टि से निहारने लगे। सभी उन्हें पाने को समुत्सुक हो गये। लक्ष्मी जी लजाती हुई अपने, रूप औदार्य; यौवन वर्ण महिमा से सबके मनको विमुग्ध बनाती हुई, विलास पूर्ण चितवन से निहारती हुई, मन्द मन्द मनोहर गात से चलकर सब लोगों के बीच में आकर खड़ी हो गईं। उसको देखकर सभी हक्के बक्के से रह गये। सभी के मन खो गये सभी विमूढ़ बन गये। सभी ने चाहा यह हमें मिल जाय। परन्तु वे किसी की ओर ताकती ही नहीं थी। ब्राह्मणों ने व्यग्रता के साथ कहा—"अरे, तुम लोग देख क्या रहे हो। ये तीनों लोकों की स्वामिनी उत्पन्न हुई हैं इनका विधि विधान पूर्वक अभिषेक तो करो। अभिषेक करने पर ये जिसे वरण करलें वही इनका पति होगा।" यह सुनकर सभी को कुछ कुछ आशा हुई। किसी ने सोचा हमारा अपार ऐश्वर्य है, हमें लक्ष्मी जी अवश्य वरण कर लेंगी। किसी ने तप के प्रभाव सोचते हुए कहा—"हम महान् तपस्वी हैं। लक्ष्मी जी हमें छोड़ नहीं सकती।" इस प्रकार किसी ने तेज के सहारे, किसी ने तप, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, सौन्दर्य के सहारे लक्ष्मी जी को पानेकी आशा की। अब तो सभी कुछ न कुछ स्वागत सत्कार करके भेंट करने लगे कि संभव है लक्ष्मी जी की हमारे ही ऊपर कृपा हो

जाय इसलिये नाना उपायन भेंट करने लगे। सबसे पहिले इन्द्र ने अत्यन्त ही बहुमूल्य आसन उन्हें बैठने के लिये प्रदान किया तदनन्तर गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियाँ मूर्तिमति होकर आईं। उन्होंने सुवर्ण के कलशों में जल भरकर अभिषेक के निमित्त लाकर उपस्थित किया। भूमि ने पवित्र औषधियों को लाकर समर्पित किया। गौओं ने दुग्ध, दही, घृत, गोमूत्र तथा गोबर पञ्चगव्य के लिये स्वयं लाकर दिया। बसन्त ऋतु ने जितने फल, फूल चैत्र, वैशाख में होते हैं, वे सब लाकर उपस्थित किये। जब सब सामग्री एकत्रित हो गई, तो वेदवादी ऋषियों ने विधि पूर्वक लक्ष्मी देवीजी का अभिषेक आरम्भ किया।

अहा! उस अभिषेकोल्लास का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है। वह तो दर्शनीय समारोह था। सभी लक्ष्मी जी के रूप, शील, यौवन, वर्ण सौन्दर्य हास विलास तथा सुन्दर स्वभाव से विमोहितसे किंकरों की भाँति काम कर रहे थे। सभी की इच्छा थी लक्ष्मी जी हमारी ओर कटाक्षपात कर दें। तनिक हमें अपने नेत्रों की ओर से निहार भर लें। अभिषेक के समय गन्धर्व, मंगल गीत गाने लगे। अप्सरायें हाव भाव दिखाकर सुमधुर नृत्य करने लगीं। आकाश स्थित मेघ गण मूर्तिमान होकर मृदङ्ग, पणव, मुरज, आनक, गोमुख, शङ्ख, घंटा घड़ियाल बांसुरी, वीणा तथा और भी विविध भाँति के बाजे बजाने लगे। चारों ओर से जय हो, 'जय हो' नमो नमः के सुन्दर शब्द सुनायी देने लगे। जय जयकारों से आकाश गूँज उठा। दशों दिशाओं के दिग्पालों ने अपनी अपनी सूँड़ों में सुवर्ण के कलशों को लेकर लक्ष्मी जी का अभिषेक किया। उस समय हाथ में क्रीड़ा कमल लिये कमला मंद

मन्द मुसकाती, कुछ कुछ लजाती सिर नीचा किये खड़ी थीं।
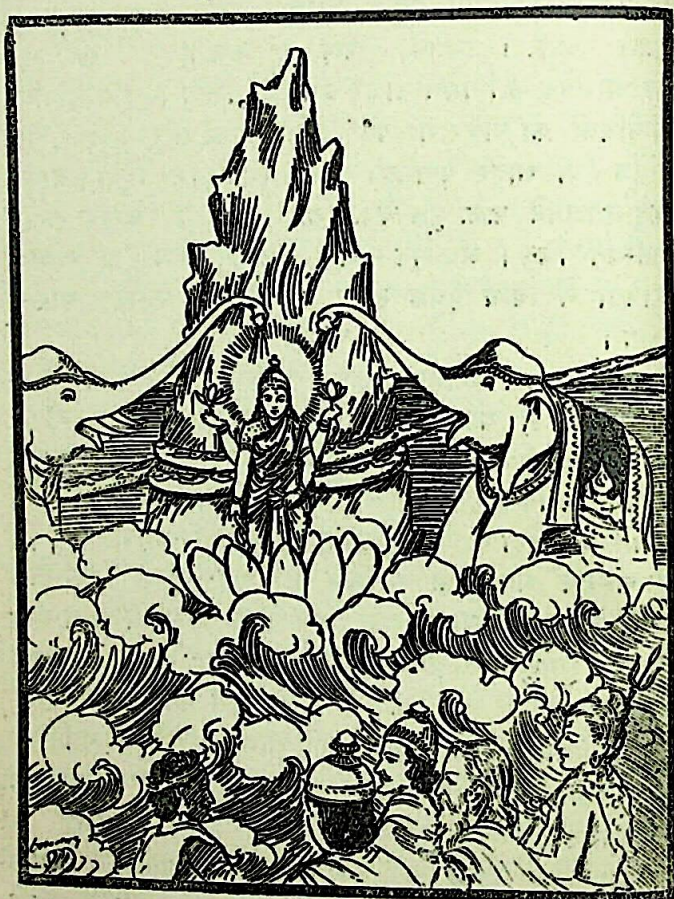
वेदज्ञ ब्राह्मण मधुर वाणी में सस्वर स्वतिवाचन पाठ कर

रहे थे। गायन, वाद्य और नृत्य के स्वर में वेद पाठ का स्वर मिलकर एक नवीन ही स्वर लहरी का निर्माण कर रहा था। पिता समुद्र ने अपनी प्यारी पुत्री को पहिनने के निमित्त प्रेम पूर्वक दो सुन्दर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र दिये। वरुण ने एक वैजयन्ती माला दी। जिसके मधु की गंध से मत्त हुए मधुकर माला के चारों ओर मँडरा रहे थे। विश्वकर्मा ने देखा कि और सब तो सामग्री हैं, किन्तु आभूषणों के बिना लक्ष्मीजी की शोभा नहीं। इसलिये वे भाँति-भाँति के अभूषण ले आये। अप्सराओं ने भगवती कमला देवी को वे सब अभूषण पहिना दिये। सरस्वती देवी ने देखा मेरी सहेली सजबज रही हैं, तो उन्होंने अत्यन्त प्यार से एक दमदमाता हुआ हार ले जाकर उनके कंठ में पहिना दिया और बोली—"बहिन! इस हार से तुम्हारी शोभा नहीं बढ़ी, किन्तु तुम्हारे कमनीय कंठ में यह हार ही अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो गया। यह सुनकर मोती के समान स्वच्छ और छोटे छोटे दाँतों की छटा को बिखेरती हुई कमला रानी हँस पड़ी। ब्रह्मा जी तो कमलासन ही ठहरे कमल से ही उनकी उत्पत्ति है, कमल पर ही बैठते हैं, कमल ही उन्हें प्रिय है। अतः एक क्रीड़ाकमल लेकर बोले लें यह कमल खेलने को लेले। उस कमल को लेने से कमला यथार्थ में कमला हो गई। नागों ने दो कुण्डल लाकर दिये, जिनके पहिनने से उनके सुचिक्कण कपोल द्वय दमकने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब त्रैलोक्य सुन्दरी लक्ष्मी-जी अभिषेक के अनन्तर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो गई तो वे अब अपने योग्य पति की खोज के लिये हाथ में जयमाला लेकर उठीं।

छप्पय

स्वीकारे उपहार वाद्य बजहिँ मनोहर ।
हरषि विप्रगन पढ़हिं वेद मंत्रनिकूँ सस्वर ॥
पितु पीताम्बर दयो पहिनकैं हरषी बाला ।
पहिनी वरुणप्रदत्त वृहद् वैजयन्ती माला ॥
वस्त्राभूषन पहिनकैं श्रीशोभा अनुपम भई ।
निज वर खोजन के निमित्त, जयमाला करमहँ लई ॥

वरवर्णिनी लक्ष्मी जी

(५२६)

ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजम्
नदद्द्विरेफां परिगृह्य पाणिना ।
चचाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलम्,
सव्रीडहासं दधती सुशोभनम् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

माला करमहँ हिलत भ्रमत मधुलोमी मधुकर ।
कुंडल लोल कपोल हास मधुमय मुख ऊपर ॥
पीनोन्नतवर वक्ष मृदुल कटि भार नमित-सी ।
छीन उदर वर नयन मृगी सम चितै चकित-सी ॥
नूपुर कंकन करधनी, कलरव पग पगपै करत ।
हंसिनि की गतितैं चलत, चितवत सब को मन हरत ॥

यह सम्पूर्ण संसार गुण दोषमय है। जिनमें अधिक गुण

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इसके अनन्तर जिनका स्वस्त्ययन हो चुका है ऐसी लक्ष्मी जी जिसपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, ऐसी कमल की माला को हाथ में लेकर कुण्डल मण्डित कपोल और सलज्ज हास से शोभायमान मुख वाली वे वर के कारण हेतु अपने स्थान से चलीं ।

होते हैं, उन्हें हम लोग गुणवान् कहते हैं और जिनमें अवगुण अधिक होते हैं उन्हें निर्गुण कहते हैं। वास्तव में तो जैसे कोई भी ऐसा अक्षर नहीं जो मंत्र न हो, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो किसी की औषधि न हो। इसी प्रकार कोई भी ऐसा पुरुष नहीं जिसमें कुछ न कुछ गुण न हों। यह दूसरी बात है, कि अवगुणों के कारण किसी के गुण प्रकट न होते हों या अधिक गुणों के कारण या स्नेह के कारण किसी में दोष दिखाई ही न देते हों, नहीं तो गुण दोष से रहित कोई भी नहीं है। केवल एक मात्र श्रीहरि ही सम्पूर्ण सद्गुणों के आश्रय हैं। ब्रह्म ही निर्दोष है। उन निर्दोष ब्रह्म को ही उनकी नित्य शक्ति लक्ष्मी भज सकती हैं। श्रीहरि के अतिरिक्त उनका और कोई पति हो ही नहीं सकता। ऐसी लक्ष्मीजी को मोह वश अपना बनाना चाहते हैं उन पर सर्वथा अधिकार करना चाहते हैं, उन्हें अन्त में निराश होना पड़ता है। अतः शक्तिमान् के सहित उन्हीं की शक्ति का मातृ भाव से चिन्तन करना चाहिये। इसी में सुख है, यही कल्याण का प्रशस्त पथ है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब लक्ष्मीदेवी वस्त्राभूषणों से भली-भाँति सुसज्जित हो गईं ब्राह्मणों ने विधिपूर्वक उनका स्वस्त्ययन करा दिया, तब वे बन ठनकर हाथ में अत्यन्त मनोहर गंधयुक्त कमल की विजय माल लेकर मंद-मंद गति से हंसिनी की भाँति अपने पादपद्मों की नूपुर की झंकार से उस सभा स्थल को झंकृत करते हुई आगे बढ़ीं। वे अपने प्राण पति जीवन सहचर को उस भीड़ में से चुनना और खोजना चाहती थीं। इधर तो पैरों में पड़े, कड़े, छड़े और नूपुरों की रुनझुन-रुनझुन ध्वनि हो रही थी, उधर कटि में लिपटी करधनी की क्षुद्र घंटिका में अपनी ताल नूपुर की ध्वनि के

साथ मिला रही थीं। करों के कंकण चूड़ियों के साथ झनकार कर रहे थे, साथ ही हाथ की मनोहर माला पर मंडराने वाले मतवाले मधुकर गुन-गुन गाते हुए गुञ्जार कर रहे थे। इधर वीणा पणव आदि मङ्गल वाद्य मधुर-मधुर स्वर में शनैः-शनैः बज रहे थे। इन सब शब्दों की ध्वनि से सभी की हृद्तंत्री के तार झंकृत हो रहे थे। सभी एकटक भाव से विलास गति से गमन करने वाली कमला के मनोहर मुख की ओर आशा भरी दृष्टि से निहार रहे थे। अहा ! उस समय लक्ष्मी जी की शोभा कैसी अपूर्व थी। उनके कमनीय कानों में नागों के दिये दो दिव्य कुण्डल उसी प्रकार हिल रहे थे मानों समुद्र से निकले चन्द्र पर दो मछलियाँ तिलमिला रही हों। चन्दन कुंकुमादि सुगन्धित दिव्य द्रव्यों से अनुरञ्जित, परस्पर में सटे उन्नत और पीन पयोधरों के भार से नमित तथा पृथुल श्रोणी के भार से मन्द मन्द गति से चलती हुई, उदर के कृश होने के कारण लचती हुई, वे सुवर्णलता के समान प्रतीत होती थीं। समुत्सुक इच्छुक व्यक्तियों के कर्ण कुहरों में अपने नूपुर की झंकार के साथ मादकता और मोहकता को छोड़ती हुई वे आगे बढ़ रही थीं। उनके चन्द्रमा के समान विकसित आनन पर हास था, अभिलाषा थी, इच्छा थी, लज्जा थी और थी सुन्दर मनोज्ञ सर्वगुण सम्पन्न वर की समुत्सुकता।

रमादेवी ने देखा सम्मुख सजे बजे सुर, असुर, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, ऋषि, मुनि, सिद्धचारण तथा अन्य भी विविध देव उपदेव बैठे हैं। उन सबमें से उन्हें अपने लिये एक वर चुनना था। सभी के हृदय में द्वन्द्व युद्ध हो रहा था, कोई भी अपने को छोटा मानने को उद्यत नहीं थ। कोई तप के कारण कोई ज्ञान के कारण, कोई महत्व के कारण, कोई ऐश्वर्य के

कारण, कोई धर्म के कारण, कोई शुभ कर्मों के कारण, कोई त्याग के कारण, कोई बल के कारण, कोई विरक्त के कारण तथा कोई दीर्घायु के कारण अपने को सर्वश्रेष्ठ समझते थे। लक्ष्मीजी जिधर भी जातीं उधर ही सब उचक उचक कर उन्हें अपना मुँह दिखाते अपना महत्व जताते। किन्तु कमला तो सर्वगुण सम्पन्न पति की इच्छुका थीं। उन्हें साधारण पति से संतोष नहीं होने का, अतः वे सब में अपने मनोनुकूल पति खोजती हुई क्रीड़ा और विलास के साथ रंगभूमि में आगे बढ़ीं।

सबसे पहिले उन्होंने बड़ी-बड़ी जटा बढ़ाये तप से जाज्वल्यमान रूखे-रूखे चर्म वाले, घोर तपस्या में निरत दुर्वासा आदि मुनियों को देखा। जो अपने तप के प्रभाव से शाप अनुग्रह करने में समर्थ हैं, जो नई सृष्टि बना सकते हैं। नया ब्रह्मांड रच सकते हैं जिनके नाम से बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् थर-थर, काँपते हैं उन परम तपस्वी मुनियों को बैठे देखा। लक्ष्मी जी ने एक दृष्टि उन पर डाली। सभी को आशा हुई कि सम्भव है, रमा हमारे तप से रीझ जायँ, किन्तु रमा कोई काम भावुकता के आवेश में करने वाली तो थी ही नहीं! उन्होंने सोचा—"तपस्या अच्छी वस्तु है। तपस्या में बड़ी शक्ति है। तप से प्राणी जो चाहे सो कर सकता है, किन्तु प्रायः ऐसा देखा गया है, कि तपस्वियों में क्रोध बहुत होता है। मैं देखती हूँ तपस्वी तनिक-तनिक सी बात पर दारुण शाप दे देते हैं। अगस्त्य मुनि राजा इन्द्रद्युम्न के समीप गये, वह मौन होकर जप कर रहा था, उसे शाप दे दिया, तू हाथी हो जा। कोई देखकर हँस पड़ा उसे शाप दे दिया, राक्षस हो जा। दुर्वासा मुनि तो शाप देने में प्रसिद्ध हैं ही, इनके अतिरिक्त भी मैं किन्हीं

तपस्वी मुनि को नहीं देखती जिन्होंने शाप न दिया हो। एक बद्रिकाश्रम के दो मुनियों को छोड़कर। अतः इन क्रोधी पतियों से मेरी न पटेगी। इनके साथ मेरी पटरी न बैठेगी। क्रोधी पति से पत्नी प्रतिक्षण शंकित बनी रहती है, उसे दिन में भोजन अच्छा नहीं लगता। रात्रि में सुख नींद नहीं आती। भगवान क्रोधी पति किसी भी स्त्री को न दें।" ऐसा सोच कर रमादेवी उनकी ओर से आखें मोड़कर आगे बढ़ गईं। तपस्वी निराश हो गये।

अब लक्ष्मी जी आगे बढ़ीं। आगे क्या देखती हैं, कि देवताओं के गुरु बृहस्पति जी, असुरों के गुरु शुक्राचार्य जी तथा और भी नीति शास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अन्यान्य शास्त्रों के ज्ञाता ब्रह्मवादी ज्ञानी मुनि बैठे हैं। सबको अभिमान था हम ज्ञानी हैं संसार में ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ हैं अतः लक्ष्मी जी हमें अवश्य वरण कर लेंगी। लक्ष्मी जी ने अपने घूँघट को तनिक सरकाकर तिरछी दृष्टि से उनकी ओर निहारा सबका हृदय हरा हो गया। कमला के कटाक्षपात से ही उनकी आशालाता लहराने लगी; हरी भरी होकर हिलने लगी। लक्ष्मी जी ने सोचा—"ये लोग ज्ञानी तो बहुत हैं, किन्तु ज्ञान की शोभा है निःसगता। इन्हें यद्यपि वेदशास्त्रों का ज्ञान है, फिर भी ये अपने जिजमानों के अधीन बने रहते हैं उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। दान दक्षिणा के लिये उनके उचित अनुचित कार्यों में इन्हें साथ देना पड़ता है। वशिष्ठ से ज्ञानी ने दूसरे से यज्ञ करा लेने के कारण कुपित होकर निमि को शाप दे दिया। बृहस्पति जी ने इन्द्र के कहने से अपने कुल परम्परा के जिजमान महाराज मरुत्त का परित्याग कर दिया। इस प्रकार इन ज्ञानियों में निःसंगता नहीं अतः इन हाँ में हाँ मिलाने वालों से

मेरा क्या काम चलेगा। यह सोचकर वे और आगे बढ़ गईं। ज्ञानी मुनियों की ओर दुबारा उन्होंने फिरकर भी नहीं देखा।

आगे उन्होंने देखा बड़े-बड़े महत्वशाली प्रजापति बैठे हैं, लोकपितामह ब्रह्माजी बैठे हैं। विश्वामित्र पराशर, सौभरि आदि महामहिम प्रजाओं के जनक विराजमान हैं। लक्ष्मी देवी जी ने दृष्टि भर कर उनकी ओर देखा। वे सब सोचे बैठे थे लक्ष्मी जी हमें अवश्य वरण कर लेंगी। संसार में सर्वत्र महत्व का ही आदर है। महत्व की आकांक्षा प्राणीमात्र को रहती है। महत्वशाली से सम्बन्ध स्थापित करने में सभी अपना गौरव समझते हैं, किन्तु लक्ष्मी जी उनकी ओर देखकर भी उनमें अनुराग प्रदर्शित नहीं किया। उन्होंने सोचा—"यद्यपि ये सब बड़े महत्वशाली हैं, संसार में इन सबकी ख्याति है, किन्तु फिर भी इन्होंने काम को नहीं जोता। ब्रह्माजी का मन संध्या को देखकर चंचल हो गया। चन्द्रमा ने अपने महत्व के अभिमान में न करने योग्य कार्य कर डाला, विश्वामित्र जी ने नई सृष्टि तो बना दी, अपने तप के महत्व से वशिष्ठजी को वंश में कर लिया, किन्तु काम पर विजय वे भी न पा सके, कोई भी पतिव्रता सती साध्वी कामी पति से प्रसन्न नहीं रह सकती। स्त्रियों के लिये इससे बढ़कर संसार में कोई दूसरा दुख है ही नहीं कि उनके पति का आचरण विशुद्ध न हो। कैसी भी स्त्री क्यों न हो वह सदा सदाचारी पति की इच्छा करेगी। यह सोच कर लक्ष्मीजी आगे बढ़ गईं।

आगे देखा इन्द्र हैं, कुवेर हैं, वरुण हैं, और भी नागलोक के ईश्वर; पाताल के, पृथ्वी के तथा अन्तरिक्ष के बहुत से अधिपति स्वामी बैठे हैं। उन्हें देखकर लक्ष्मी जी तनिक देर के लिये ठिठक गईं। लक्ष्मीजी को अपनी ओर निहारते देखकर

सभी के मन मुकुर खिल उठे, लक्ष्मीजी खड़ी-खड़ी सोचने लगीं—"यद्यपि ये अपने मन के पीछे इन्द्र लगाते हैं देवेन्द्र असुरेन्द्र, नरेन्द्र, राक्षसेन्द्र आदि किन्तु क्या वास्तव में ये इन्द्र-स्वामी-सामर्थ्यवान हैं। इन्द्र को ही सब असुर परास्त कर देते हैं, तो दीन होकर त्रिदेवों की शरण में जाते हैं उनके द्वार पर नाक रगड़ते हैं, रोते चिल्लाते हैं, ऐसे दूसरों के आश्रय में रहने वालों को अपना दुलहा बनाकर मैं क्या सुख पाऊँगी। स्त्री की इच्छा होती है, मेरे पति मेरे स्वामी तो हों ही और भी सभी उनकी आज्ञा मानें। जो स्वयं दूसरों के आश्रय में रहने वाला है, ऐसे पति से पत्नी को जैसे प्रसन्नता हो सकती है। पत्नी घर की ही स्वामिनी नहीं है अपने पति के हृदय की भी स्वामिनी है, यदि उसका पति परमुखापेक्षी है, दूसरों के अधीन उसकी जीविका है, दूसरों का दास है तो उस दास की स्वेच्छा से कौन स्वाभिमानिनी स्त्री पत्नी बनेगी।" यह सोचकर वे और आगे बढ़ीं।

आगे क्या देखती हैं, कि बड़े-बड़े धर्मात्मा, यज्ञ करने वाले, धर्म की रक्षा करने वाले परशुरामं आदि बैठे हैं। लक्ष्मीजी ने उनकी ओर भी दृष्टि पात किया—"फिर सोचा, कि धर्म में ही आग्रह करने वालों को दया नहीं होती। कितने मूक प्राणियों को धर्म के नाम पर धर्मात्मा बलि चढ़ा देते हैं। परशुराम जी ने धर्म के ही नाम पर कितने क्षत्रियों का संहार कर डाला। धर्म की आड़ लेकर बहुत प्राणियों का बध किया जाता है। प्रायः देखा गया है, धर्म के नाम पर सौहार्द को तिलाञ्जलि दे दी जाती है, अतः सौहार्दहीन धर्मात्माओं से विवाह कर के स्त्री को क्या सुख मिल सकता है। जो पति पत्नी को प्यार न करे केवल सूखे धर्म में ही लगा रहे, ऐसे

पति को स्वयं, वरवर्णिनी कन्या कैसे वरण करेगी ?" यह सोच कर वे आगे बढ़ गईं।

आगे चल कर देखा बड़े बड़े त्यागी बैठे हैं। कोई कोई तो ऐसे त्यागी हैं जिन्होंने अपना राजपाट त्याग दिया है, बहुतों ने परोपकार के लिये प्राणों तक को भी समर्पित कर दिया। लक्ष्मीजी ने उनकी ओर भी देखा और सोचने लगीं—"त्याग यद्यपि बहुत ऊँची वस्तु है, त्याग से ही शाश्वती शांति प्राप्त हो सकती है, किन्तु प्रायः देखा जाता है, जो लोग अन्न, धन, वस्त्र, राज्य, पाट यहाँ तक कि प्राणों तक का भी त्याग करते हैं, वे केवल स्वर्ग की कामना से करते हैं। हमें इस कर्म से अक्षय स्वर्ग प्राप्त हो नृग ने स्वर्ग कामना से ही दान दिया। महाराज शिवि का त्याग भी स्वर्ग प्राप्ति के लिये ही था। जो त्याग मुक्ति का कारण नहीं वह सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता।" यह सोचकर वे और भी आगे बढ़ गईं।

आगे चल कर भगवती रमा देवी ने देखा बड़े बड़े बली बने ठने बैठे हैं, उन्हें अपने बल का बड़ा अभिमान है, वे आशा भरी दृष्टि से लक्ष्मीजी को निहार रहे हैं। लक्ष्मीजी ने उनकी ओर भी कटाक्षपात किया। लक्ष्मीजी के निहारते ही वे सब बल पौरुष को भूल गये, मंत्रमुग्ध की भाँति उनकी ओर देखते के देखते ही रह गये। लक्ष्मीजी ने सोचा—"यद्यपि बलवान् सर्वत्र विजयी होता है, सभी उससे भयभीत रहते हैं, बलवान् पति को पाकर पत्नी प्रसन्न होती है, वह अपने को सुरक्षित समझती है फिर भी समरशूर की पत्नी अपने सौभाग्य को स्थिर नहीं समझती। उसे सदा शंका ही बनी रहती है, कि समर में न जाने कब कोई श्रेष्ठ शूर आकर मेरे स्वामी को मार दे। रावण, हिरण्यकशिपु, कार्तवीर्य आदि आदि कितने

श्वविजयी वीर हो चुके हैं ये सभी सबको जीतने वाले
र वीर पराक्रमी यशस्वी, तेजस्वी और अपने को अपराजित
ानने वाले थे। अन्त में ये भी काल के गाल में चले गये।
न्हें भी कालान्तर में काल कवलित होना पड़ा। वली होने
र भी जो कराल काल के वेग से मुक्त नहीं ऐसे संशय आयु
ाले पति को कौन कल्याणेच्छुका कन्या स्वेच्छा से ग्रहण
र सकती है।" यह सोचकर कमला देवी वहाँ भी न ठहरीं
ौर भी आगे बढ़ गईं।

आगे उन्होंने देखा सनक सनंदन, सनतकुमार, सनातन,
ारद तथा अन्य भी बहुत से ऊर्ध्वरेता महात्मा विराजमान हैं।
क्ष्मीजी की ओर देखते भी नहीं। नासिका के अग्रभाग की
ोर ध्यान लगाये निजानन्द में निमग्न हैं लक्ष्मीजी वहाँ ठहर
ईं। बार बार चूड़ियों को झनझनाने लगीं, किन्तु उन्होंने
क्ष्मीजी की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा। तब तो लक्ष्मी
ी ने सोचा—"यद्यपि ये सबके सब विषयासक्ति से रहित हैं,
दाचारी हैं, क्रोध भी नहीं करते। फिर भी सदा ध्यान में ही
गे रहते हैं नीरस चित्त के हैं। स्त्रियाँ तो सरस पुरुष से
न्तुष्ट होती हैं। उन्हें तो वही अत्यन्त प्रिय होता है, जो
नसे हँसे, बोले, मीठी-मीठी प्रेम की बातें करें, नित्य कुछ समय
न्हें दे। जो सदा ध्यान धारणा में ही निमग्न रहता है, ऐसे
ति को लेकर कन्या क्यों अपने भाग्य को विपत्ति में डालेगी।
यों ऐसे नीरस समाधिनिष्ठ को स्वेच्छा से वरण करेगी।
ही सब सोच कर वह अपने कड़े छड़े और नूपुरों को खन
नाती, चोटी को हिलाती तथा मन्द-मन्द मुस्कराती आगे बढ़
ई।

आगे उन्होंने देखा हजारों, लाखों, करोड़ों, कल्पों की आयु

वाले महात्मा बैठे हैं। उन दीर्घजीवी ऋषियों को दे
कमला कुछ हँसी और सोचने लगीं—"यह सत्य है, कि
जीवन सभी चाहते हैं। ये मार्कण्डेय मुनि कल्पजीवी हैं, लो
ऋषि की आयु की थाह ही नहीं। एक ब्रह्मा के बदलने प
अपना एक लोम गिरा देते हैं, किन्तु ऐसे दीर्घजीवन से
लाभ? इन बूढ़े लोगों में स्त्रियों को प्रसन्न करने की शक्ति
इनका शील सरल और सानुराग नहीं। इनके साथ मङ्गल
वाली महिलाओं का मन मङ्गलमय न हो सकेगा। आयु के
भार हो जायँगे। स्त्रियों का चित्त चंचल होता है, उन्हें
सुम्म पाषाण के पुतले के समान बिना हँसने खेलने वाला
प्रिय नहीं। इन बड़ी-बड़ी दाढ़ी जटावाले दीर्घजीवी
साथ मेरा निस्तार नहीं, निर्वाह नहीं।" यह सोचकर वे आगे
गईं।

आगे देखा जो दीर्घजीवी भी हैं और सरस प्रकृति के
स्त्रियों में अनुराग भी रखते हैं किन्तु वे लोग लड़ाकू हैं।
युद्ध अत्यन्त प्रिय है। जो युद्ध के लिये सदा उधार खाये
रहता हो, जिसे सबसे शत्रुता करने में आनन्द आता हो,
पति बनाकर अपने माँग सिंदूर को संशय में कौन डा
चाहेंगी? अतः ऐसे लोगों को भी छोड़कर कमला रानी
बढ़ी।

आगे उन्होंने देखा दत्तात्रेय, भगवान् भोलेनाथ
और भी अनेकों योगेश्वर विराजमान हैं। वे लोग दीर्घ
भी हैं, सरस प्रकृति के भी हैं अपनी प्रियाओं को प्यार
वाले भी हैं किन्तु इन सब की रहन सहन विचित्र है
श्मशान में रहते हैं, कोई मुंडमाला पहिनते हैं, कोई कु
साथ घूमते हैं, कोई भूतों के साथ नाचते हैं, कोई खप्प

खाते हैं, कोई सुरा को चढ़ाते हैं, कोई चिता की भस्म लगाते हैं, कोई अशुचि वस्तुओं से अपने शरीर को सजाते हैं, ऐसे अघोरियों के साथ कमला रानी की इच्छा रहने की नहीं हुई। वे तो सात्विक प्रकृति की हैं, उनको तो पवित्रता शुचिता तथा स्वच्छता चाहिये। उन्हें ऐसा पुरुष चाहिये जिसमें तप भी हो, तेज भी हो, ओज भी हो, ज्ञान भी हो, वैराग्य भी हो। जो महत्वशाली भी हो, जितेंद्रिय भी हो, अजर भी हो, अमर भी हो, बली भी हो, योगी भी, सुन्दर भी हो सरस भी हो हँसमुख भी हो, मधुरभाषी भी हो, विश्व विजयी भी हो, पवित्र भी हो और अलंकार प्रिय भी हो सरांश यह कि सर्वगुण सम्पन्न हो, जो सदा बनाठना रहता हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा पति कहाँ मिले, इसी लिये कमला रानी आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखने लगीं।"

छप्पय

सब सद्‌गुन सम्पन्न करै अन्वेषन निजवर।
तेज ओज तप युक्त होहि सुरवर अजरामर॥
लखि सबके गुन दोष फिर पतिहित गजगामिनि।
नहिँ निरखे निरदोष चकित है चितवति भामिनि॥
आभा अतसी कुसुम सम, निरखे नयननंद हरि।
गुणसागर निरवद्य लखि, ठिठकी नीचे नयन करि।

—:o:—

श्री लक्ष्मी जी का नारायण को वरण

(५२७)

एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणैः,
वरं निजैकाश्रयतागुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितम्,
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० २३ श्लो

छप्पय

निरगुन सब गुन युक्त सरस सुन्दर सुखसागर ।
सरल सलौने श्याम सनातन शोभा आकर ॥
मम अभीष्ट वर जिही विष्णु निश्चय करि जाने ।
रमा मुदित अति भईं पुरातन हित हहिचाने ॥
नव कमलनिकी माल पै, गूँजे बहु मधुकर निकर ।
करकमलनि तैं कंठ में डारि वरे श्री अजित बर ॥

जीव भटकता है प्यार के लिये । कहीं तप देखता है
ही आशा लगाता है, किन्तु तपस्वी किसके मीत हैं उन्हें
स्वर्ग की इच्छा है, कहीं सुन्दरता देखकर मुग्ध हो जाता
किन्तु कनक घट में भी भीतर विष भरा रहता है । कहीं म
यश प्रशंसा कीर्ति सुनकर उनके पास जाता है, किन्तु उन
आन्तरिक आचरण देखकर उनसे भी निराश हो जाता

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ऐसा विचार कर श्रील
जी ने नित्य निर्दोष, सद्गुणों से सम्पन्न, समस्त प्राकृत गुणों से अ
सम्पूर्ण दिव्य गुणों से अलंकृत अपने योग्य वर श्री मुकुन्द भग
को वरण कर लिया । यद्यपि वे श्री हरि उनकी ओर से निरपे
दिखाई दिये, फिर भी सर्वगुण समझकर स्वीकार लिये ।"

कहीं कामिनी के सुमधुर हास्य से, उनकी तिरछी चितवन से, उनकी मधुमय वाणी से विमुग्ध होकर वहाँ आशा लगाता है, किन्तु जहाँ काम है वहाँ प्रेम कहाँ, तृप्ति कहाँ ? वहाँ से भी उसे निराश होना पड़ता है। प्राणी प्रेम के बिना रह नहीं सकता। प्रेम होता है निर्दोष, निश्चल, प्रतिक्षण वर्धमान। जिसमें क्रोध, काम, संग, दीनता, रूक्षता, आसक्ति नीरसता अपवित्रता तथा चिंता आदि अवगुण हैं; वहाँ स्थाई प्रेम कहाँ ? उनमें तो स्वार्थ का प्रेम है। गुणग्राही प्रेम है। जहाँ वे गुण नष्ट हुए तहाँ प्रेम भी शिथिल पड़ गया। इसलिये जीव सर्वत्र प्रेम खोजता है, घर में, परिवार में, जाति में, देश में सर्वत्र वह प्रेम की ही खोज करता है, किन्तु पाटल के साथ कंटक सर्वत्र दिखाई देते हैं। निर्दोष प्रेम कहीं देखता ही नहीं तब वह संसार से मुख मोड़ कर इन मरण धर्मा प्राणियों से प्रेम की आशा छोड़कर मृत्यु को भी मारने वाले मुकुन्द की शरण में जाता है, उन्हें पति रूप में वरण करता है, उन्हें अपना स्वामी बनाकर वह सदा के लिये सुखी हो जाता है। वही तो उसका पुरातन सनातन प्रेमास्पद है। उसे भूलकर इधर उधर ठोकर खाता है। अन्वेषण करता है, पुरुषार्थ करके साधन में तत्पर होता है अथवा, मार्ग, पन्थ, में प्रवृत्त होता है आगे बढ़ता है। बढ़ते-बढ़ते सबका यथार्थ मर्म समझते, सब दर्शनों से यथार्थ वस्तु की खोज करता है नेति-नेति से अन्वय करता है। जब उसे पा लेता है, तो उसके कंठ में हार ही नहीं डाल देता है उसके हृदय का हार बन जाता है उसे वरण कर लेता है, पुरातन सम्बन्ध समझ जाता है अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, कृतार्थ हो जाता है। यही स्वयंवर का रहस्य है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लक्ष्मी जी लजाती हुई स्वयं ही पति की खोज कर रही थीं। उन्होंने उतावली नहीं की। गंभीरता से विवेक-पूर्वक वे अन्वेषण में तत्तपर रहीं। सबके गुणों को भी देखा, किन्तु उन गुणों को दोषों से युक्त अनित्य समझ कर उन्होंने उनका आदर नहीं किया। पति का अन्वेषण पूर्ववत् चालू ही रखा। आगे जब वे ये नहीं, ये नहीं, ये भी नहीं, कहती-कहती आगे बढ़ीं तो सब से अन्त में उन्होंने बैठे हुए बनवारी को निहारा, वे छैल चिकनिया बने बैठे थे। उन्हें न उत्सुकता थी न इच्छा। वे हँसते हुए बैठे थे, वे बार-बार उचक-उचक कर लक्ष्मी की ओर देख भी नहीं रहे थे। वे समस्त ऐश्वर्य से सम्पन्न थे। सौन्दर्य के सागर नित्य सद्गुण सम्पन्न थे। उनका तप, क्रोध से रहित था बदरीवन में जब इन्द्र के कहने से काम, वसंत, मलयानिल तथा अप्सरायें उनके तप को भंग करने सब मिलकर उनके आश्रम पर आये तो उन्होंने क्रोध नहीं किया। हँसकर मुस्करा कर उनका स्वागत किया। वे तपस्या-तपस्या के निमित्त करते हैं। क्रोध करके तप का नाश करना वे जानते नहीं। वे ज्ञान के साकार स्वरूप हैं प्राणी मात्र से निःसङ्ग हैं। सब कुछ करते हुए भी सबसे पृथक् हैं। काम को उन्होंने विजित ही नहीं किया अपना पुत्र बना लिया। जो सगा पुत्र बन गया, उसे तो जीतने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं वे किसी का आश्रय नहीं चाहते। विश्व उनके आश्रय में पल रहा है। प्राणि-मात्र के एक मात्र आश्रय वे अखिलेश अच्युत ही हैं। वे सर्व भूतों के सच्चे सनातन सुहृद हैं। सबका सगे सम्बन्धी से भी बढ़कर स्नेह करते हैं। मुक्ति उनकी दासी है, काल के भी काल हैं। वे इतने सरस हैं कि सरसता उन्हीं से शिक्षा पाती है,

उन्हीं की चेली बनकर संसार में शृंगार रस का प्रचार करती है। वे मङ्गल स्वरूप हैं। सत्व, रज तथा तम इन गुणों से सर्वथा निर्लिप्त होते हुए भी दिव्य गुणों के आकर हैं। अणिमादि सम्पूर्ण सिद्धियाँ तथा धर्म ज्ञान, वैराग्य आदि सम्पूर्ण दिव्य सद्गुण उनके किंकर हैं। ऐसे सर्वगुणाश्रय मुकुन्द को निहारकर रमा वहीं ठिठक गईं। मुकुन्द मन्द-मन्द मुस्कराये, किन्तु उत्सुकता तथा व्यग्रता प्रकट नहीं की। लक्ष्मीजी ने देखा, और तो इनमें सम्पूर्ण सद्गुण ही सद्गुण हैं। एक बात है, कि जितना मैं इन्हें चाहती हूँ उतना ही ये मुझे सम्भवतया नहीं चाहते। इनकी चेष्टा से निरपेक्षता प्रकट होती है। सो कोई बात भी नहीं। स्त्रियाँ ऐसे पुरुष से भी विशेष सन्तुष्ट नहीं होतीं जो उनका सदा क्रीड़ा मृग ही बना रहता है, उनके संकेत पर नाचता ही रहता हो, उनके सर्वथा अधीन होकर उनके तलवों को ही चाटता रहता हो। वे पति को स्वाभिमानी देखना चाहती हैं, जो अवसर पड़ने पर उनसे प्रेमकलह कर सकता हो और समय पड़ने पर मना भी सकता हो! इसलिये इनका मेरे प्रति निरपेक्ष भाव भी एक महान् गुण ही है। यह सब सोचकर उन्होंने मृणाल के सरिस अपने उतार चढ़ाव के बाहुओं को तनिक ऊँचा किया। जिसमें कंकण, चूड़ी और बाजूबन्द हिलकर खन-खन कर रहे थे उन बाहुओं से उस दिव्य कमल की जयमाला को, जिस पर मत्त मधुप गुँज रहे थे श्रीहरि के कमनीय कंठ में पहिना दी। उस माला को पहिन कर मुकुन्द उसी प्रकार शोभित हुए मानो नीलांजल पर टेसू के फूल फूल रहे हों अथवा बड़े भारी जलधर मेघ में इन्द्र धनुष लिपटा हुआ हो। श्रीहरि हँस रहे थे वे नेत्रों की कोर से नीचा सिर किये हुए कभी-कभी दृष्टि बचाकर रमा की ओर देख लेते थे। किन्तु रमादेवी निरन्तर उनके विशाल

वक्षस्थल की ओर एक टक भाव से निहार रही थीं। वे

विस्फूर्जित नयनों से लज्जा सहित मुस्कराती हुई मानव की मनमोमक माधुरी का अपलक पान कर रही थीं। वे अब न हिलती

थीं न डुलती थीं पाषाण की सजीव प्रतिमा के समान निश्चल भाव से नटवर के सम्मुख खड़ीं थीं।

भगवान् ने जब देखा रमा की समुत्सुकता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है। उनके हृदय सागर में प्रेम का ज्वार भाटा उमड़ रहा है, वे स्नेह की लहरियों में स्वयं ही बहना चाहती हैं तो उन्होंने नेत्रों के संकेत से उन्हें अपने समीप बुलाया। लजाती हुई कुछ भयभीत सी हुई प्रेम के भाव में भावित हुई रमादेवी आगे बढ़ीं श्रीहरि ने देखा ये बार-बार मेरे विशाल वक्षःस्थल को निहार रही हैं। प्रतीत होता है इन्हें मेरा हृदय देश ही अत्यन्त प्रिय है, ये मेरे हृदय में विराजमान कौस्तुभमणि को कुछ डाह की दृष्टि से देख रही हैं, तो लाओ इन्हें भी अपने हृदय का हार बना लूँ। वैजयन्ती माला और कौस्तुभमणि की सहेली बना लूँ। यही सब सोचकर श्रीहरि ने लक्ष्मीजी को अपने हृदय का हार बना लिया, उन्हें अपनी छाती पर बिठा लिया। ऐसा उत्तम निवास स्थान पाकर लक्ष्मीजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा वे अपने सौभाग्य की सराहना करने लगीं। जब वे जगत् पिता के हृदय की स्वामिनी बन गईं तब तो जगन्माता हो गईं। अब किसका साहस जो उन्हें अन्य किसी भाव से देख सके। सभी उन्हें अपनी जननी, प्रसविनी, माता के रूप में देखने लगे। जगन्माता लक्ष्मीजी ने भी तीनों लोकों की अपनी संतानों को वात्सल्य दृष्टि से एक बार देखा। समीप में ही बैठे हुए इन्द्र, वरुण कुवेर, मय, वायु, अग्नि आदि लोकपालों को उन्होंने करुणामयी दृष्टि से निहार कर सब की श्री की वृद्धि की। तीन लोक जो निःश्री हो गये थे। लक्ष्मी देवी के पुनः प्राकट्य और श्री मुकुन्द के वरण करने से पुनः श्री सम्पन्न हो गये। उस समय गन्धर्व शंख, मृदंग, पणव, वीणा आदि बाजे बजाकर

"जय रमारमण गोविन्द" आदि जय घोष करने लगे। अप्सरायें नांचने लगीं, ऋषि, मुनि स्तुति करने लगे। सर्वत्र आनन्द छा गया, सुख की सरिता सी प्रवाहित होने लगी। आनन्द का समुद्र सा उमड़ने लगा। जय जयकारों के महान् शब्द से तीनों लोक भर गये। ब्रह्माण्ड के बाहर भी ध्वनि छा गई। ब्रह्मा, महादेव तथा अङ्गिरा आदि महर्षि पुष्पाञ्जलियों को समर्पित करते हुए वेद के मन्त्रों से लक्ष्मी सहित नारायण की स्तुति करने लगे।

देवता पुनः श्री सम्पन्न होकर हृष्ट-पुष्ट हो गये। दुर्वासा का शाप समाप्त हो गया। दैत्य, दानवों को आशा थी, लक्ष्मी हमारा वरण करेंगी। किन्तु उनकी आशा निराशा में परिणित हो गई। लक्ष्मीदेवीजी ने उनका तिरस्कार कर दिया। वे अपने सत्य सनातन प्राचीन पति के ही वक्षःस्थल में पुनः विराजमान हुईं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लक्ष्मीजी के निकलने पर और भगवान् अजित के वरण कर लेने पर समुद्र फिर से मथा जाने लगा।

छप्पय

हरि को वक्ष विशाल निरखि श्री अति हरषाई
रमाभाव पहिचान विष्णु उर-माल बनाई॥
हरि हिय आसन मिल्यो जगन्माता पद पायो।
लखे जीव श्रीहीन कृपा करि तेज बढ़ायो॥
विधि, हर, सुर, मुनि, ऋषि सबहिं, मंत्र पढ़हिं विनती करहिं।
नाचैं मिलि सुरसुन्दरी, विविध वाद्य विधिवत बजहिं॥

धन्वन्तरि अवतार तथा अमृतोत्पति

(५२८)

अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः ।
स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः ॥
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ॥*
(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

तब पुनि मथ्यो समुद्र बारुनी कन्या निकसी ।
हरि असुरनिकूँ दई पाइ तिनिकूँ सो हरसी ॥
घमर घमर सब मथैं भये पुनि पुरुष पुरातन ।
अमृत कलशकूँ लिये विष्णु के अंश सनातन ॥
सुन्दर सौभाग्य शरीर सुभ, देवनिकूँ देखैं बिहँसि ।
मुखपै लटकैं लट मनहु, अहि शिशु पावैं सुधा शशि ॥

भगवान् की एक-एक लीला में अनेक-अनेक कारण छिपे रहते हैं। रोग सनातन हैं, इसी प्रकार रोगों की चिकित्सा भी सनातन है। रोग होते हैं पाप से। जब सृष्टि के आदि में कोई पाप ही नहीं करता था, तो रोग भी नहीं होते थे। जब आदि सत्युग का अन्त होने लगा, ध्यान के स्थान में यज्ञ का प्रचार होने लगा, तब मैं बड़ा तू छोटा ऐसे विषम विचार उत्पन्न हुए। राग

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! समुद्र से करों में कंकणादि से विभूषित साक्षात् विष्णु भगवान् के अंश से अवतीर्ण हाथ में अमृत का कलश लिए एक पुरुष प्रकट हुए। वे आयुर्वेद के प्रवर्तक हुए। यज्ञ भाग के अधिकारी हुए, उनका धन्वन्तरि ऐसा नाम संसार में प्रसिद्ध हुआ।

द्वेष का बीज उत्पन्न हुआ दक्ष के यज्ञ से कलह हुई तभी रोगों की उत्पत्ति हुई। जब रोग हुए तो उनकी चिकित्सा करके आजीविका करने वाले वैद्य हुए।

आर्य शास्त्र में भाव को प्रधान माना गया है, जो आजीविका निकृष्ट है, उससे निर्वाह करने वाले निकृष्ट माने गये हैं। यद्यपि शव हस्त से दान लेने वाले महापात्र आचार्य ब्राह्मण हैं, किन्तु उनकी आजीविका अधम होने से वे अस्पर्श माने गये हैं। इसी प्रकार दुखी लोगों के दुख को दूर करना, रोग से व्याकुल जीवों को औषधि द्वारा निरोग करना यह महान् पुण्य का कार्य है किन्तु उससे धन लेकर आजीविका चलाना यह निकृष्ट कार्य है। अधम वृत्ति है। इसीलिये वैद्य विद्या को वेद वादियों ने अधमाधम कहा है। वैद्यों को यज्ञ में भाग नहीं मिलता था भगवान् तो भक्तवत्सल हैं अतः अब उन्होंने वैद्यावतार ही धारण किया, जिससे अमृत देखकर देवता स्वार्थवश वैद्यों को भी यज्ञ भाग देने लगे। संसार में चमत्कार को नमस्कार होती है। जिस पर कुछ है, उससे सम्बन्ध रखने में हम अपना गौरव समझते हैं, जिस पर कुछ है ही नहीं उससे बातें करना व्यर्थ समझते हैं, इसीलिये यह अवतार खाली हाथ नहीं निकला अमृत के कलश को हाथ में लिये हुए उत्पन्न हुआ।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब लक्ष्मी जी ने श्री मन्नारायण के कंठ में विजय माला पहिना दी और भगवान् ने भी प्रसन्नता पूर्वक उन्हें अपने हृदय का हार बनालिया तो देवता, असुर, लक्ष्मीजी से निराश से हो गये। उन सबने उन्हें मातृ-भाव से स्वीकार कर लिया।

समुद्र पुनः मथा जाने लगा। अब के कुछ ही काल में मद से विघूर्ण नेत्र वाली, अलसाती इठलाती मदमाती एक अत्यन्त

सुन्दरी वारुणी नामक कन्या उत्पन्न हुई। सब उसे देखकर मतवाले से हो गये सभी अनुराग भरी दृष्टि से देखने लगे! भगवान् ने सोचा—"इसे देवताओं ने ले लिया, ये सदा वारुणी के मद में चूर बने रहेंगे, मुझे भूल ही जायँगे! अतः वे पहिले से ही बोले—"भाई, यह तो असुरों के भाग की वस्तु है। हम अन्याय नहीं करना चाहते।"

असुरों ने हर्षोल्लास के स्वर में शीघ्रता से एक साथ ही कहा—"हाँ, हाँ यह हमारे ही भाग की तो हैं, हम इसे अवश्य ग्रहण करेंगे।" यह कह कर उन सब असुरों ने श्रीहरि की सम्मति से वारुणी देवी को लिया। भगवान् की सम्मति के सन्मुख सुरों ने विरोध प्रकट नहीं किया वह भी इस बात से सहमत हो गये।

समुद्र का मथना फिर भी वन्द नहीं हुआ। अमृत निकालने का संकल्प अभी पूरा नहीं हुआ था जब तक अमृत न निकले तब तक परिश्रम करते रहना यही पुरुषार्थ है। जो नियम पूर्वक धैर्य के साथ विघ्नों सामना करते हुए अव्यग्र भाव से अपने कार्य में लगा रहता है, उसे एक दिन अवश्य ही सफलता प्राप्त होती है। यही सब सोचकर देवता असुर दोनों ही दुगुने उत्साह से समुद्र मथते ही रहे। अबके उनका परिश्रम सफल हुआ। समुद्र में से साक्षात् विष्णु भगवान् के अंशावतार धन्वन्तरि भगवान् प्रकट हुए।

उनकी भुजाएँ स्थूल लम्बी और उतार चढ़ाव की सुन्दर तथा मनोहर थीं। शंख के समान कमनीय कण्ठ था। विकसित कमल के सदृश उनके दीर्घायत अरुण विशाल नेत्र थे। उनका शरीर सुन्दर सुचिक्कण तथा श्यामवर्ण का था। चढ़ती हुई नवीन तरुण अवस्था थी! गले में अम्लान पुरुपों की घुटनों तक लटकने

वाली सुगन्धित वृहद्माला धारण किये हुए थे। अङ्ग प्रत्यंगों में तत् तत् स्थानीय अमूल्य आभूषण धारण किये हुए थे। उनके शोभायुक्त सुन्दर शरीर पर पीतवर्ण का महीन रेशमी वस्त्र झलमल झलमल करके शोभित हो रहा था तथा वायु में इधर-उधर उड़कर अपना बाल सुलभ चापल्य प्रदर्शित कर रहा था। विशाल वक्षःस्थल पर मणिमय हार विद्युत् प्रभा के सदृश दमदम दमक रहा था। कानों में अत्यन्त स्वच्छ आभा युक्त मणिमय कुन्डल हिल रहे थे, चमक रहे थे, शोभित हो रहे थे। उनकी काली काली घुँघराली सुगन्धित द्रव्यों से पोसी पाली, अलकावली, हिल हिल कर अपनी कुटिलता में से भी आभा को बखेर रही थीं। जो दर्शकों के नयनों को तृप्ति प्रदान करने वाले अत्यन्त ही आकर्षक और मनोहर थे। ऐसे धन्वन्तरिजी अपने आंगुलीय कंकणादि से विभूषित हाथ में सुवर्ण पूर्ण कलश लिये हुए बाहर निकले।

श्रीसुक कहते हैं—"राजन्! इस समुद्र मन्थन लीला में एक साथ भगवान् ने जितने अवतार धारण किये, उतने संभवतया किसी भी लीला में नहीं धारण किये। ये धन्वन्तरि भगवान् भी साक्षात् श्रीहरि के अंशावतार ही थे। भगवान् के २४ अवतारों में धन्वन्तरि भगवान् की भी गणना है। उन्होंने ही पृथिवी पर आयुर्वेद विद्या का प्रचार किया। जिससे आयु सुरक्षित रहती है, उसकी वृद्धि होती है और अकाल मृत्युओं से बचाती है। ये भगवान् आयुर्वेद के आदि आचार्य माने गये हैं। इनके नाम संकीर्तन से सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। ये हाथ में अमृत कलश लिये हुए ही उत्पन्न हुए।

धन्वन्तरि भगवान् को हाथ में अमृत का कलश लिये हुए देखकर सभी हर्ष के कारण नृत्य करने लगे। सभी के मुख कमल

अमृत रूप रवि के दर्शन मात्र से खिल उठे। सभी ने तुरन्त वासुकि को छोड़ दिया। समुद्र मन्थन का कार्य समाप्त हो गया। आशा भरी दृष्टि से उस अमृत पूर्ण कलश की ओर निहारने लगे। उसे लेने, उसका स्वाद चखने को सभी व्यग्र हो उठे। जो वस्तु जितनी ही प्रतीक्षा से, जितनी विघ्न बाधाओं के अनन्तर कष्ट से, उत्पन्न होती है, उसके लिये उतनी ही अधिक उत्सुकता बढ़ती हैं। ऐसे समय किसी विरले को ही धैर्य रहता है जो अजितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने साधन द्वारा अपनी इन्द्रियों को संयमित नहीं किया है, वे ऐसे समय अपने कर्तव्य और धैर्य से विचलित हो जाते हैं। अमृत को देखकर सबके मन में लोभ आ गया। सभी कर्तव्य को तिलाञ्जलि देकर अपने ही स्वार्थ की बात सोचने लगे। सभी अमृत को अकेला ही पी जाने का प्रयत्न करने लगे। इसीलिये उत्पन्न होते ही अमृत के लिये छीना झपटी आरम्भ हो गई।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अमृत से भरे हुए कलश को देखकर सभी वस्तुओं पर पहिले से ही मन चलाने वाले असुरों ने उसे छीन लेने का प्रयत्न किया।"

छप्पय

धन्वन्तरि भगवान् भये भक्तनि सुखदाई।
कुंडल मंडित करन हृदय बनमाल सुहाई॥
हरषे दानव दैत्य कौरिकै देखैं पुनि पुनि।
गुन गावैं गन्धर्व पढ़ैं मन्त्रनिकूँ ऋषि मुनि॥
अजितेन्द्रिय अति ई असुर, अमृत निरखि व्याकुल भये।
आव गिन्यो नहिं ताव कछु, छीन अमृतकूँ भगि गये॥

———

अमृत के लिये असुरों में परस्पर कलह।

(५२६)

मिथः कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० ८ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

देवनिके मुख फक्क परे अतिशय घबराये ।
कहि कहि सुन्दर वचन अजित सब विधि समझाये ॥
ठगिके छीनूँ अमृत अन्तमहँ सींग दिखाऊँ ।
चिन्ता कछु मति करो पेट भर तुम्हें पिलाऊँ ॥
सुरनि सान्त्वना दई पुनि, अन्तरहित श्रीहरि भये ।
मैं पीऊँ तू पिये कस, असुर अमृत हित लड़ि गये ॥

अधर्म से-पाशविक बल-से जो सम्पति प्राप्ति होती है, उसे प्राप्त करते समय ही क्षणिक सुख होता है, परिणाम उसका दुखद ही होता है। यदि अधर्म से उत्पन्न धन से किसी की समृद्धि

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब असुर अमृत कलश को छीन ले गये तो फिर उन अमृत लोलुप दैत्यों में ही परस्पर कलह होने लगी। कोई कहता मैं पहिले पीऊँगा? दूसरा कहता? नहीं मैं पीऊँगा। इस प्रकार से उनमें कलह होने लगी।

होती, तो तभी चोर श्रीमान् हो जाते। बहुत से राजकर्मचारी जो अभियोग होने पर नित्य ही प्रजा से बहुत सा धन अनुचित रूप से ले लेते हैं, यदि वह सुकृत में लगता, तो वे सबके सब धनी हो जाते। किन्तु प्रायः देखा गया है, इस प्रकार अधर्म तथा अन्याय से धन लेने वालों का पेट भी नहीं भरता। उनका वंश नहीं चलता। जिस प्रकार से धन आता है, उसी प्रकार से चला जाता है। इस विषय में एक गाथा है। किसी वेश्या को वृद्धावस्था में धरम करम करने की सूझी। उसने सोचा—"पितृपक्ष में श्राद्ध करने का बड़ा पुण्य है, मैं भी श्राद्ध करूँ। धनका तो कुछ कमी थी ही नहीं। उसने ब्राह्मणों से अपना विचार कहा। तब तक वर्तमान समय की भाँति घोर कलियुग नहीं आया था। वेश्या का धन लेना किसी ब्राह्मण ने स्वीकार नहीं किया। यह बात किसी बूढ़े भाँड़ को मालूम पड़ी। वह तिलक छापे लगा कर ब्राह्मण का वेष बनाकर वेश्या के समीप आया और बोला—"बाईजी! आशीर्वाद!"

बाईजी ने उठकर उन बूढ़े कपट वेषधारी ब्राह्मण का स्वागत किया और बोली—"पंडितजी! आप भले आये मुझे कनागत में नित्य एक बामन जिमाना है।"

बूढ़ा भाँड़ बोला—"अब बाई जी! क्या बतावें आप लोगों का धन इतना निकृष्ट है, कि कोई भला ब्राह्मण क्यों लेने लगा। किन्तु फिर भी तुम लोगों का भी उद्धार तो कैसे भी हो। अस्तु मैं सूखा सीधा लिया करूँगा।" वेश्या ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। नित्य ही माल घुटने लगे। खीर खांड का भोग लगने लगा। एक सुवर्ण। मुद्रा वह नित्य दक्षिणा देती। इस प्रकार १६ दिन बड़ा आनन्द रहा। अंत में वेश्या ने भाँड़

महाराज के चरणों को धोकर चरणामृत लिया, वस्त्र धन आदि "दान दिये और हाथ जोड़कर बोली, महाराज, कुछ आशीर्वाद दो।"

भाँड़ ने सब वस्तुओं की पोटली बाँधकर रख ली और बोले—

सोलहू कनागत बीत गये, खाई खीर औ खाँड़।
पौं को धन पौं ही गयो, तुम वेश्या हम भाँड़॥

यह कहकर वह चलता बना। सारांश यह है कि जैसा धन आता है वैसे ही काम में व्यय होता है। दूसरों के साथ विश्वास-घात करके बलपूर्वक जो धन छीन लेते हैं वे प्रायः उसका उपभोग नहीं कर सकते।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं ने परिश्रम तो बहुत किया, भगवान् की आज्ञा मानकर संतोष भी करते रहे, किसी वस्तु पर मन भी नहीं चलाया दैत्यों से सर्वदा दबते रहे। दैत्य उनसे बली थे, इन्हें केवल अजित भगवान् का भरोसा था। उन्हीं भगवान् के भरोसे पर उन्होंने पुरुषार्थ किया परिश्रम से अमृत निकाला। किन्तु यह सनातन से चला आ रहा है, कि छोटे लोग वस्तुओं को परिश्रम करके पैदा करते हैं उसका उपभोग करते हैं बली लोग; क्योंकि दोनों ही भगवान् पर विश्वास नहीं रखते। निर्बल धर्म को बली अधर्म दबा लेता है यदि भगवान् पर विश्वास रखकर पुरुषार्थ किया जाय, तो निर्बल होने पर भी उसका सुमधुर फल उन्हें ही प्राप्त होगा, बली मुँह ताकते के ताकते ही रह जायँगे। कुछ काल को अन्यायी बली प्रसन्न भले ही हो लें अन्त में उन्हें रिक्तहस्त ही रहना पड़ेगा।"

श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—राजन्! असुर तो अत्यन्त लोलुप थे ही। वे तो समुद्र से जो भी वस्तु निकलती उसे ही लेना चाहते

थे। भगवान् के बीच में पड़ जाने से वे और देवताओं के सब सह लेने से वे अब तक साथ देते रहते। लड़ाई झगड़ा न कर सके। किन्तु अब ज्यों ही उन्होंने अमृत के कलश को धन्वन्तरि जी के हाथ में देखा, त्यों ही सहसा उसके ऊपर टूट पड़े और न आव-गिना न ताव अत्यन्त शीघ्रता से धन्वन्तरि भगवान् के हाथ से अमृत छीन कर ये गये वे गये। क्षण भर में माल मित्रों का हो गया। देवता टुम्म टुम्म देखते के देखते ही रह गये। दैत्य हाथ मार ले गये। माल मसाले को लेकर चम्पत हुए।

देवताओं के मुख काले पड़ गये। वे अत्यन्त ही दुखी हुए। एक दूसरे को धिक्कारने लगे। कोई कहता 'तुम्हारी ही असा-वधानी से ऐसा हुआ, कोई 'कहता हमें पहिले से ही सावधान रहना था। कोई कहता 'सब किया कराया चौपट हो गया। सब गुड़गोबर हो गया। वे अत्यन्त दीन होकर मलिन मुख से श्री हरि की शरण गये। हारे के हरि भगवान्।

दीनदयाल दामोदर को देवताओं की दीनदशा पर दया आई और वे उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—"अरे, देवताओं। इतने से ही घबरा गये। भैया! चिन्ता की कोई बात नहीं। तुम मेरे ऊपर विश्वास करो। देखो, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तुम्हें अमृत पिलाऊँगा और अवश्य पिलाऊँगा। अपनी माया से मायावी दैत्यों को मोह में डाल कर उनके किये कुकृत्य का फल चखाऊँगा। अमृत को उनसे छीन कर तुम्हें दिखलाऊँगा, भर पेट पिलाऊँगा और उन्हें अन्त में उल्लू बनाकर सींग दिखाऊँगा।

भगवान् के ऐसे आश्वासन को पाकर देवताओं का दुःख दूर हुआ वे भगवान् के वचनों पर विश्वास करके निश्चिन्त हो गये। इधर असुर अमृत को लेकर भाग गये। समस्त असुर उनके पीछे

पीछे गये। देवता गुम्म सुम्म वहाँ के वहीं भगवान् के भरोसे पर बैठे रहे।

दैत्यों में भी कुछ बली थे कुछ निर्बल। कुछ छोटे थे कुछ मोटे, कुछ अच्छे थे कुछ खोटे। कुछ सीधे थे कुछ टेढ़े। जिसके मन में कपट है वह सभी से कपट करता है। सगे भाई को भी ठगना चाहता है, पिता के जीते जी उसके द्रव्य पर अधिकार जमाना चाहता है असुरों में जो बली थे वे कहने लगे—"पहिले हम पीवेंगे हमसे जो बचे वह और पीवें।" दूसरे बोले—"यह कैसे हो सकता है। तुम्हारे सोने के पंख लगे हैं। पहिले हम पीवेंगे।" कुछ बोले—"भाई, हम तुम क्यों करते हो सबको बराबर बाँट दो।"

अब जो वैसे तो निर्बल थे। किन्तु बात बनाने में चतुर थे, ऐसे लोगों ने सोचा हमें तो ये लोग देंगे नहीं। तो वे लोग धर्म का सहारा लेने लगे। स्वार्थी लोग जब देखते हैं यहाँ हमारी वैसे दाल न गलेगी तो बहुमत का जनता का सहारा लेकर धर्म की आड़ लेकर उस प्रश्न को धार्मिक सार्वजनिक रूप दे देना चहते हैं। ऐसे ही कुछ दुर्बल असुर जनता के धर्म के प्रतिनिधि होकर डाह और स्वार्थवश होकर बोले—"भाई, देखो! हम धर्म की बात कहते हैं, देवता और दैत्य सभी ने समान परिश्रम किया है। न्याय यही कहता है, सबको समान भाग मिलना चाहिये। यह नहीं कि बली सबको पी जायँ, निबल देखते के देखते ही रह जायँ। अन्याय मत करो, अधर्म का आश्रय मत लो, लोक परलोक का विचार करो। जहाँ धर्म है वहीं विजय है, जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी भी रक्षा करता है। अतः धर्म की रक्षा करने से तुम्हारा कल्याण होगा "बोल दो सनातन धर्म की जय।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वे असुर इस प्रकार अमृत

के लिये परस्पर में वाद विवाद कर रहे थे। दूर से ही उन्हें छम्म छम्म की ध्वनि सुनाई दी उस ध्वनि में ऐसा आकर्षण था, कि असुर अमृत को भुलकर उसी ओर देखने लगे।"

छप्पय

असुरनि मोहन हेतु मोहिनी बने मुरारी।
पँचरँग चूनरि ओढ़ि नासिका महँ नाथ धारी॥
लहँगा धारीदार हरी-सी पहिनी चोली।
करि सोलह सिंगार नारि सम बोलैं बोली॥
नील कमलसम श्याम रँग, अँग अँग महँ यौवन उठनि।
हंसगमनि अनुपम हँसनि, लीलायुत चितवनि चलनि॥

———

मोहिनी अवतार

(५३०)

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुःसर्वोपायविदीश्वरः ।
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥
प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम् ।
समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम् ॥❀

(श्री० भा० ८ स्क० ८ अ० ४१-४२ श्लो०)

छप्पय

कारे कुंचित केश भालपै वेंदी मनहर ।
नयन, नासिका गंड अङ्ग सब अतिशय सुन्द्रर ॥
वस्त्राभूषन धारि चली यौवन मदमाती ।
कंदुक क्रीड़ा करति फिरति इत उत अलसाती ॥
सुन्दरता साकार है, शोभा भई सजीव मनु ।
असुर मृगानिकूँ फाँसिवे, व्याधिनि बिहँसति चली जनु ॥

विरागियों को विरक्ति वश में कर सकती है, धन लोलुप धन के द्वारा अपनाये जा सकते हैं। मानी सम्मान के द्वारा

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उसी समय सभी उपायों के जानने वाले विष्णु भगवान् ने एक परम अद्भुत अनिर्वचनीय स्त्री का रूप धारण किया । वह नील कमल के समान सर्वाङ्ग सुन्दर स्वरूप था । सभी इन्द्रियँ समान थीं और तत् तत् स्थानों के आभरण भी समान थे। सुन्दर कापोल और उन्नत नासिक से युक्त आनन था ।"

पक्ष में लाये जा सकते हैं और कामी कामिनियों के द्वारा दास बनाये जा सकते हैं। जो जिसे चाहता है, जिसके ऊपर लट्टू है, वह उसके फंदे में फँसकर सब कुछ कर सकता है। संसार में प्रियता अपेक्षा कृत है। साधारणतया जिनसे हमारा द्वेष नहीं जिनमें जितना ही अधिक आकर्षण होता है, वे उतने ही अधिक प्रिय समझे जाते हैं। जिनके प्रति अत्यधिक आकर्षण हो जाता है, उनके ऊपर सर्वस्व निछावर कर दिया जाता है, उनके लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं। बरसात में पतिंगे दीप की ज्योति से आकर्षित होकर उसके ऊपर टूट पड़ते हैं, अन्त में अपना सर्वस्व गँवाकर प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। संसार में रूपाकर्षण न हो, तो यह संसार चक्र ही न चले। परस्पर के आकर्षण से ही यह सृष्टि क्रम चल रहा है। जब जीव धर्म को त्याग कर अनुचित आकर्षण में फँस जाता है, तभी वह ठगा जाता है। तभी लुट जाता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! अमृत के छिन जाने पर जब देवता दुखी हुए, तो दुखियों के दुख को दूर करने वाले दीनदयाल उनसे बोले—"देखो, तुम निराश न हो। मेरी शरण में जो आ जाता है, उसे फिर निराश नहीं होना पड़ता। मैं तुम्हें यथेष्ट अमृत पिलाऊँगा।"

देवताओं ने निराशा के स्वर में कहा—"अजी, महाराज! अब क्या पिलाओगे। अब तो वे दुष्ट दैत्य छीन ले गये। वह उसे रखेंगे थोड़े ही, जाते ही चढ़ा जायँगे। यदि अब उनसे युद्ध करें झगड़ा कर, बलपूर्वक पीने से रोक दें, तो न स्वयं पावेंगे न हमें पीने देंगे। मिट्टी में फेंक देंगे पानी में उड़ेल देंगे। अब तो उनके हाथ से लेने का कोई उपाय ही नहीं दिखाई देता।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अरे, देवताओं! तुम लोगों को मेरे ऊपर विश्वास नहीं ? तुम सब मन्दराचल को नहीं उठा सके, उस समय मैं उसे कैसे लीला से ले आया। जिस समय तुम मथने से निराश हो गये थे, उस समय स्वयं मैंने मथकर तुम्हें कितना सहारा दिया, जब तुम्हारा मन्दर जल में घुसा जा रहा था, उस समय कछुआ बनकर मैंने उसे किस प्रकार अपनी पीठ पर धारण किया। उपाय तो मैं जानता हूँ। तुम देखना दैत्य न तो अमृत को पी ही सकेंगे, न फेंकेंगे ही। प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छा से वे मुझे अमृत कलश दे देंगे। ऐसा उपाय रचूँगा, कि न साँप मरे न लाठी टूटे। देखना यह मेर चातुरी।"

देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! आप सर्वज्ञी हैं, सर्वसमर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर श्री हरि अन्तरहित हो गये। सब मायाओं के विशारद नटनागर ने इस बार ऐसी लीला रची कि देवों की तो बात ही क्या देवों के भी देव महादेव उस लीला को देखकर चक्कर में आ गये, वे भी उसके रहस्य समझने में तनिक देर के लिये विमोहित हो गये।

अमृत के लिये असुर परस्पर कलह कर रहे थे, उस अमर होने वाली औषधि के लोभ से स्वाभाविक सौहार्द को तिलाञ्जलि देकर वे दस्युधर्म में प्रवृत्त होकर अमृत पात्र की छीना झपटी में लगे हुए थे। उसी समय छम्म छम्म की ध्वनि सुनकर उनके कान खड़े हुए। जैसे बच्चा किसी बच्चे से झगड़ा कर रहा हो, रो रहा हो उसी समय उसे मिठाई या

सुन्दर चमकीली कोई खेलने की वस्तु दिखा दो, तो रोने को छोड़कर वह उसी में अनुरक्त हो जाता है उसी प्रकार असुर लड़ना भूलकर उस ध्वनि का अन्वेषण करने लगे। इतने में ही वे क्या देखते हैं, कि सामने से एक षोडशवर्षीय श्यामा अपनी आभा से दशों दिशाओं को देदीप्यमान करती हुई चली आ रही है उसका रूप सौन्दर्य अद्भुत अनिर्वचनीय तथा अनुपम है। नील कमल के समान उसका सुन्दर श्याम सुचिक्कण सुकोमल स्वरूप है। सौन्दर्य उसके अङ्ग प्रत्यंग से फूट फूट कर निकल रहा है। उसके कर्णों के कुंडल तनिक, उन्नत लोल गोल कपोलों की आभा को अधिकाधिक आकर्षक बना रहे हैं, मनोहर मुखपर नुकीली नासिका शुक तुन्ड को भी तिरस्कृत कर रही है अर्धोन्मीलित कमल समान मनोहर मुख पर मन्द मन्द हास्य छिटक रहा है, उसमें मादक दिव्य गन्ध निकल कर दशों दिशाओं को सुवासित कर रही है। उस गन्ध और मकरन्द के लोलुपमत्त मधुप कमल के भ्रम से उसके आनन के चारों ओर मड़रा रहे हैं। यौवन के उठान के कारण उसके आनन का सौन्दर्य निखर गया था जिस पर स्वाभाविक अल्हड़पन, नैसर्गिक भोलापन और स्त्री सुलभ चांचल्य सब साथ ही क्रीड़ा कर रहे थे। क्रीड़ा और लीला के साथ मुख पर आये हुए मधुकरों को उड़ाती, करके कंकणों और आभूषणों को खनकाती, वायु में बिखरे वस्त्रों को सम्हालती हुई, वह मंद मंद गति से असुरों की ही ओर आ रही थी। एक क्रीड़ा कंदुक उसके कमनीय करों में था, दो कठोर कंदुक उसने अपनी कंचुकी में छिपा रखे थे। उदर के कृश होने के कारण वह चलते चलते सुवर्णलता के समान लच जाती। नितंबों के भार के कारण उसके पादतल बालू में धँस जाते, उन्हें उठाते समय

उसके मुखपर श्रमयुक्त सिकुड़न पड़ने से स्वेदकण नन्हें नन्हें मोतियों के समान चमकने लगते। सर्पिणी के समान पृष्ठ देश में पड़ी उसकी वेंणी वायु वेग से तथा गमन के श्रम के कारण कुटिलता पूर्वक हिल रही थी। उसमें गुथे हुए मालती मल्लिका के कुसुम कुम्हिला कुम्हिला कर कहीं कहीं गिर रहे थे। कण्ठ में पड़ी मणियों और रत्नों की मालायें, वक्षःस्थल के स्पर्श से चंचल सी हो रही थीं। मृणाल के सदृश अत्यन्त कोमल विशाल भुजाओं में कंकण, बाजूबन्द अंगद आदि भूषण विभूषित हो रहे थे जिससे वह शब्दायमान सी प्रतीत होती थी। निमल वस्त्र से वेष्टित नितम्बद्वय के ऊपर सुवर्णमयी कर्धनी विद्युत् के समान चमक रही थी और मंजीर सदृश शब्द कर रही थी। जंघन और उरुओं के बोझ से आरक्त पादद्वय नूपूर की झन्कार सहित शनैः शनैः क्रम से उठ और बैठ से रहे थे।

उस सबला अबला का सलज्जमुस्कान के कारण चलायमान तथा भ्रूभङ्गी से कटाक्षपात करता हुआ अति अद्भुत रूप दैत्य यूथपतियों के हृदय में बारम्बार कामोद्दीपन कर रहा था। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! लीला के आवेश में तुम इस बात को मत भूल जाना कि यह ललना और कोई नहीं है बहुरूपिया घनश्याम ने ही यह रूप धारण कर लिया है। यह मोहिनी रूपधारी भगवान् ही हैं। ये लक्ष्मी जी के दुलहा ही आज लक्ष्मी जी की सहेली बन आये हैं। जो प्राणी इस परम पूजनीय वंदनीय रूप में काम भाव करेंगे वे नरक के अधिकारी होंगे। दैत्य ही ऐसा भाव रख सकते हैं देवता तो इस रूप को अश्रु विमोचन करते हुए बारंबार प्रणाम करते हैं। उनकी पद धूलि को श्रद्धा सहित सिर पर चढ़ाते हैं। हाँ, तो राजन्। यह भगवती मोहिनी असुरों के मन को मथती हुई, मन्द मुस्कान

से मूर्खों को मोहती हुई, असुरों से तनिक दूर ही खड़ी हो गई।

उसे देखते ही सब असुर अपने आपको भूल गये और परस्पर कहने लगे—"अहा! इस कामिनी की कैसी कमनीय कान्ति है। इसका कैसा विशुद्ध विचित्र वेष है। कैसी यौवन क आरम्भ की नूतन अवस्था है यह कौन है, देवताओं में ऐसा सौन्दर्य नहीं, गन्धर्व तथा विद्याधरों की युवतियों में भी ऐसा अनवद्य सौन्दर्य देखने में नहीं आया। यह तो सृष्टि से परे का सौन्दर्य है। ऐसा रूप लावण्य इस भूमण्डल में आज तक न कभी सुना गया, न देखा गया, चलकर इसे पूछें तो सही, यह कौन है, क्या चाहती है, हमसे दूर क्यों खड़ी है।" ऐसा कहते हुए कुछ उतावले असुर दौड़कर उसके समीप पहुँचे, बहुतों ने लम्बे पैर बढ़ाकर उनका अनुगमन किया। कुछ बड़े बूढ़े टहलते हुए ऊपर से निरपेक्षभाव प्रदर्शित करते हुए अपनी उत्सुकता को न रोकने के कारण पीछे से जाकर खड़े हो गये।

एक साथ असुरों ने उससे अनेक प्रश्न कर डाले—"देवी जी! आप कौन हैं? बाई जी! आप कहाँ से आई हैं? हे सुशोभने! आप क्या चाहतीं हैं? हे मृगनयनी! क्या आप मोहन मन्त्र जानती हैं? हे भामिनी! आप किनकी कन्या हैं? एक बात और भी हम पूछना चाहते हैं। पूछना तो न चाहिये, किन्तु रहा भी नहीं जाता। क्या आपने अभी तक किसी का पाणिग्रहण किया ही नहीं?

मोहिनी देवी ने किसी की बात का उत्तर नहीं दिया वे नीचा सिर किये हुए चुपचाप खड़ी रहीं! बात चलाने को असुर फिर बोले—"देवीजी! हमें तो ऐसा लगता है, कि किसी भी देवता,

असुर, सिद्ध, गन्धर्व, चारण तथा लोकपालों ने तुम्हारा अभी तक स्पर्श नहीं किया। जब इन्द्रादि लोकपाल भी तुम्हें नहीं पा सके, तो विचारे अल्पवीर्य मनुष्यों की बात ही क्या ? हम सब आपका परिचय पाने को बड़े ही उत्सुक हैं। आप किसी देहधारी प्राणी के रजवीर्य से उत्पन्न नहीं हुई हैं, हमें तो ऐसा जान पड़ता है, कि साक्षात् ब्रह्माजी ने अपने हाथों से संसार का सौन्दर्य एकत्रित करके तुम्हारा निर्माण किया है। इन नाना प्रकार के क्लेशों से क्लांत प्राणियों के मन को प्रसन्नता के हेतु देहधारियों पर दया करके दैव ने तुम्हारी सृष्टि की है। हम परस्पर में ही कलह करने वाले भाइयों के वादविवाद को शान्त करने के निमित्त भाग्य ने तुम्हें यहाँ भेजा है। आप कौन हैं, कृपा करके अपना परिचय हमें दीजिये।"

इतने पर भी मोहिनी महारानी कुछ भी नहीं बोलीं। वे बार-बार असुरों के ऊपर ठहर ठहर कर कटाक्ष बाण फेंककर उन्हें अधिकाधिक व्यथित बनाती रहीं। तब तो असुर अत्यधिक अधीर हो उठे और बोले—"अच्छा, आप कोई भी हों। हमें आपके परिवारिक परिचय से क्या प्रयोजन ? आपका परिचय तो प्रत्यक्ष ही है। अच्छा, हमारा परिचय सुनिये।"

इस बार मोहिनी देवी ने तनिक अपने मुख को हिलाकर उन्हें परिचय देने की आज्ञा प्रदान की। तब तो वे बड़े उल्लास से कहने लगे—'भगवती जी ! हम सब महामुनि कश्यपजी की संतान हैं। बड़े कुलीन हैं, श्रेष्ठ कुल में हमारा जन्म हुआ है हम सब तीनों लोकों के अधीश्वर हैं।"

मन्द मन्द मुस्कराती हुई मोहिनी देवी बोली—"तब तुम यहाँ क्यों एकत्रित हुए हो ?"

इस पर अत्यन्त ही आह्लाद के साथ असुर बोले—"बाईजी ! हम सब मिलकर अमृत के लिये समुद्र मथ रहे थे।"

मोहिनी रानी बोली—"तो क्या अमृत निकला ?"

शीघ्रता के साथ असुर बोले—"हाँ, निकला।

देखिये, यह अमृत का ही कलश है।"

मोहिनी देवी ने पूछा—"तब पीते क्यों नहीं तुम लोग। लड़ाई झगड़ा क्यों कर रहे हो ?"

कुछ निर्बल असुरों ने कहा—"कलह का कारण यह अमृत का कलश ही है। हमारे ये बली भाई कहते हैं, पहिले हम भर पेट पीलेंगे तब किसी को देंगे। हम कहते हैं पंक्ति भेद मत करो सबको बराबर बराबर दो। इसी पर वादविवाद हो रहा है।"

वीणा विनिन्दित वाणी में मोहिनी देवी हँसती हुई बोलीं—"अरे, तुम कुलीन होकर झगड़ा करते हो ? न्यायानुकूल बाँट कर पीलो।"

इस पर अन्य कोई बोल उठे—"देवीजी तुम्हारा भगवान् भला करें, तुमने धर्म की बात कही है। हम लोग तो भाई भाई होकर भी लोभवश एक वस्तु के पीछे परस्पर में बैर बाँधकर वादविवाद कर रहे हैं, लड़भिड़ रहे हैं। आप पक्षपातहीन हैं। आप हमारी पंच बन जायें, हम भाइयों में यथान्याय इस अमृत को बाँटकर जातिद्रोह को शांत करें। गृहकलह के द्वारा होने वाले कुल नाश से हमारी रक्षा करें।" इतना कह करके वे असुर सबको सम्बोधन करते हुए बोले—"कहो ! भाई सबको यह बात स्वीकार है ? देवी जी को सब लोग पंच मानते हो ?"

असुर तो उस मोहिनी वेषधारी भगवान् की मोहिनी माया के कारण मोहित हो ही रहे थे। वे तो उसके कहने से सब कुछ करने को उद्यत थे। उनके एक कटाक्ष के संकेत पर अपने प्राणों

का उत्सर्ग करने के लिये भी कटिबद्ध थे। सभी ने एक स्वर में हाथ उठाकर कहा—"हम सबको सहर्ष स्वीकार है। देवी जी हमारी पंचायत की अधिनायिका बने। हमारी न्यायाधीश्वरी बने ये यदि हमें कुछ भी न दें विष भी पिला दें तो भी स्वीकार है।"

यह सुनकर मोहिनी देवी मन्द-मन्द मुस्कराती हुई अपनी कुटिल कटाक्ष भङ्गी से दैत्यों की ओर निहारती हुई बोलीं—"असुरों! तुम कहते तो अपने को कश्यप मुनि की संतान हो, किन्तु मुझे तुम बड़े भोले दिखाई देते हो?"

असुरों ने समुत्सुक होकर कहा—"क्यों देवी जी! क्या बात है?

मोहिनी ठगिनी बोलीं—"बात क्या है, तुम लोग स्त्री के चक्कर में फँस गये। भले मानस, कहीं कामिनियों का विश्वास करते हैं? अरे, किसी की सती साध्वी पतिव्रता स्त्री हो, किसी की कुलीन कन्या हो, वीर प्रसविनी माता हो इनका विश्वास किया जा सकता है। जो पण्य स्त्री है वाराङ्गना है चंचल चित्त की है, व्यभिचारिणी है उसका अनुसरण करना तो जान बूझकर अग्नि में प्रवेश करना है। पतंगे की भाँति उसकी रूप की ज्योति में जलकर मर जाना है। तुम मुझे जानते नहीं। मैं किसी एक की पत्नी नहीं, व्यभिचारिणी वेश्या हूँ। जो मुझसे प्रेम करते हैं, मेरा ध्यान करते है, मेरी ही बातों को सुनते रहते हैं, मुझे अपना सर्वस्व समर्पित करते हैं, मेरे ही पैरों की सेवा करते हैं, मुझे ही हृदय में धारण करके सोते हैं, मेरी ही याद करके रोते हैं मेरी ही चिन्ता में अपने आपको खोते हैं। मैं उन्हीं की हो जाती हूँ, उन्हें ही अपने आप को सौंप देती हूँ। उन्हीं के अधीन हो जाती हूँ। जो मुझे भूल जाते हैं वे दुखी होते हैं, दुख उठाते हैं। मैं किसी एक की नहीं

सबकी हूँ। ऐसी स्त्रियों का विश्वास करना तुम जैसे स्वाभिमानियों के लिये उचित नहीं।

यह सुनकर दैत्यों का विश्वास और भी बढ़ गया। सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कोई आदमी अपने ही अवगुण अपने आप बताने लगे तो उसकी सत्यता पर सबको बड़ा विश्वास हो जाता है। इसलिये बड़े विश्वास के साथ असुर बोले—"आप कोई भी क्यों न हों, हमें प्रेम भरी दृष्टि से देख रही हैं यही हमारे लिये यथेष्ट है पर्याप्त है।"

मोहिनी बोली—"देखो व्यभिचारिणी स्त्रियों की दृष्टि स्वाभाविक ही ऐसी होती है। कामी भ्रमवश उसे प्रेममयी समझ लेते हैं। जैसे कमलिनी का स्वाभाव ही खिल जाने का है। मधु-लोलुप मूढ़ मधुप समझता है यह मुझे ही देखकर खिल गई है, मुझे ही रस पिलाने को हिल रही है, इसी प्रकार स्वैरिणी स्वभावानुसार हँसती है कटाक्षपात करती है, किन्तु कामी समझते हैं यह मेरे प्रति प्रेम प्रदर्शित कर रही है, मुझे रिझा रही है। मुझे तो तुम विना स्वामी की ग्राम्य कुतिया की तरह समझो। जैसे कुतिया को जो भी टुकड़ा दिखा देता है, उसी के पीछे दौड़ने लगती है। उसी के आगे पूंछ हिलाती है, पैर चाटती है, पेट दिखाती है, उसे रिझाती है। तुम मेरा विश्वास व्यर्थ कर रहे हो। मैं तुम्हारे साथ छल करूँगी, कपट का व्यवहार करूँगी। पक्षपात भी करूँगी। यह सब तुम्हें स्वीकार हो, तो मैं तुम्हारी न्यायकारिणी बन सकती हूँ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मोहिनी देवी या देव की ऐसी विचित्र स्पष्ट बिना लगाव लपेट की बातें सुनकर असुरों का उनके ऊपर और भी विश्वास बढ़ गया। उन्होंने ये सब परिहासोक्तियाँ ही समझी और बोले—"हमें सब

स्वीकार है, आप जो भी स्याह सफेद करें, हम कुछ न कहेंगे।" यह सुनकर मोहिनी महारानी हँसी और बँटवारे की अध्यक्षा बन गईं।

छप्पय

आये सब मिलि असुर कहैं को तुम का नामा।
को पति काकी नारि फिरहु अस कस बन श्यामा॥
अमृत हेतु हम लरहिँ हमारी रार मिटाओ।
बटवारों करि देउ यथामति अमृत पिआओ॥
सुनि हँसि बोली मोहिनी, कश्यपसुत सिरीं भये।
मम वेश्या के रूपपै, च्यौं मदमाते ह्वै गये।
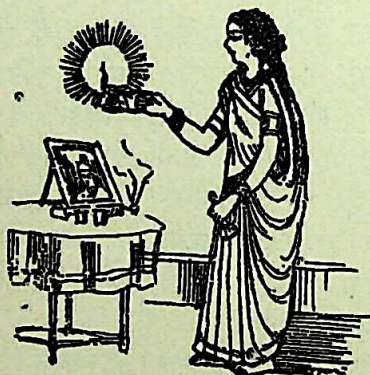
अमृत बाँटने वाली मोहिनी

[५३१]

तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूल—
श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन
कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाविवेश ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ९ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

बालाकी सुनि बात बढ्यौ विश्वास सबनिकूँ ।
अमृत कलशकूँ लाइ तुरत दे दीओ तिनकूँ ॥
तिरछी चितवनि निरखि बिहँसि बोलीं बर बानी ।
कहियो फिरि मति कछु, करौंगी हौं मनमानी ॥
सब बोले-परमेश्वरी, हमकूँ सब स्वीकार है ।
जो चाहैं लो करो तुम, मार तुम्हारी प्यार है ॥

जीव जब जिस पर मोहित हो जाता है, तब फिर उसे सर्वस्व सौंप देता है। काम का वेग ऐसा प्रबल होता है, कि

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कहते हैं—"राजन् ! जिनके नितम्ब प्रदेश पर दिव्य दुकूल शोभा दे रहा है। करीन्द्र शावक सूँड के समान जिनकी मनोहर उतार चढ़ाव जंघायें हैं उन मद से विह्वल नयन वाली कुम्भस्तनी मोहिनीजी ने अमृत का कलश हाथ में लिये हुए अमृत बाँटने के स्थान में प्रवेश किया। उस समय उनके पैरों में कनक के नूपुर झंकार कर रहे थे।

फिर उसमें विवेक नहीं रहता। मनुष्य जिस पर लट्टू हो जाता है, फिर उसकी सभी बातें अच्छी लगती हैं। उसकी प्रत्येक
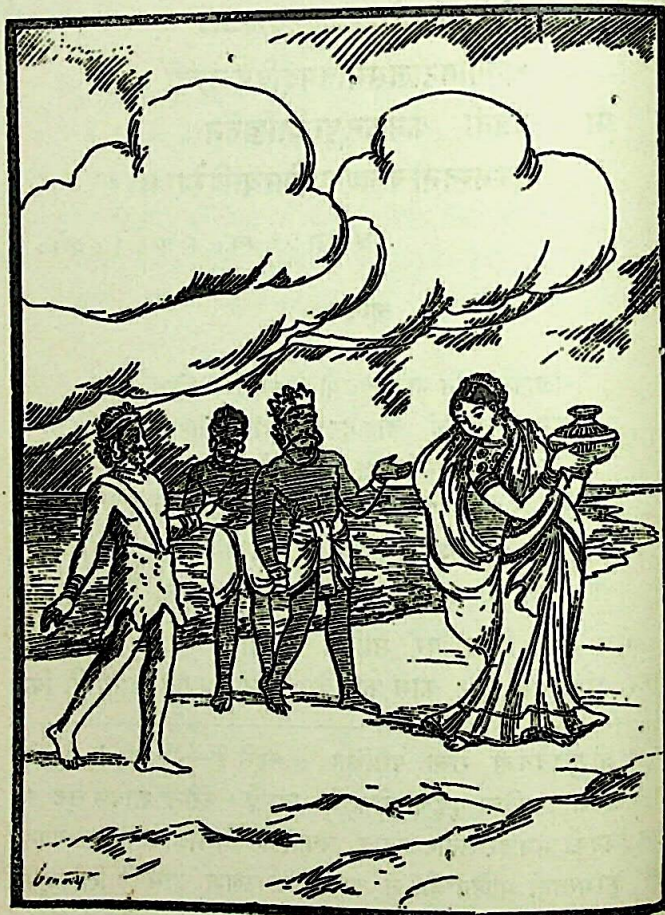
चेष्टा सुखकर प्रतीत होती है, उसके दोष भी गुण के समान

दिखाई देते हैं। जब वह मद उतर जाता है, तब ज्ञान होता है। तब उसे अपनी भूल प्रतीत होती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब मोहिनी देवी ने स्पष्ट शब्दों में अपने को पण्यस्त्री बता दिया, तब तो वे कामी असुर और भी अधिक उस पर विश्वास करने लगे और उससे बार-बार अमृत बाँटने का आग्रह करने लगे। उसकी टेढ़ी चितवन के आगे अमृत उन्हें तुच्छ दिखाई देता। उसकी मधुर मुसकान के सम्मुख अमृत नीरस और शुष्क सा प्रतीत होता था। जब असुरों ने विश्वास में आकर मोहिनी देवी को अमृत का कलश दे दिया, तो स्थूणाखनन न्याय से मोहिनी देवी बोली—"देखो, असुरो ! फिर मुझे पीछे दोष मत देना। कान खोल कर मेरी बात को फिर से एक बार सुन लो। मैं अच्छा करूँ या बुरा, किसी को कम दूँ या अधिक, किसी को दूँ या न दूँ, पीछे तुम यह मत कहना हमारे साथ पक्षपात किया।"

असुर अत्यन्त प्रेम के साथ बोले—"बाईजी ! आप कैसी विचित्र बातें कर रही हैं। हमने एक बार कह दिया बार-बार कह दिया। हम से चाहें जैसे शपथ करालो, प्रतिज्ञा पत्र लिखालो, गङ्गाजी में खड़ा कराके कहलालो। हमें सब स्वीकार है। आप जो करेंगी उसमें हम कुछ हस्तक्षेप न करेंगे।"

यह सुनकर मोहिनी रानी हँसी। उन्होंने अपने हास्य से सभी के मन मन्त्र मुग्ध बना लिये और फिर टेढ़ी भौंहें तान कर हँसती हुई अधिकार के स्वर में बोली—"अच्छा, जाओ ! सब स्नान करो।"

असुरों ने स्नान काहे को किया होगा, किन्तु मोहिनी देवी की आज्ञा से सब ने उबटन लगाकर शरीर को मलमल कर भली भाँति स्नान किया।

तब मोहिनी बोली—"सब कोरे-कोरे वस्त्र पहिनों।" असुर तो मूढ ही ठहरे उन्हें क्या पता था, ये कोरे वस्त्र पहिनाकर हमें सर्वदा कोरमकार कर देंगी।" सबने कोरे वस्त्र पहिने, चन्दन लगाया, फूलों की सुगन्धित मालायें धारण की। वस्त्रा-भूषणों से सुसज्जित होकर, बन ठनकर वे मोहिनी देवी के समीप आये।

फिर उन्होंने—"प्रज्वलित अग्नि में हवन किया। कामधेनु गौ की पूजा की ब्राह्मणों को दान दक्षिणा दी। वेदवादी मुनियों से स्वस्तिवाचन कराया और उल्लास के साथ बच्चों की भाँति बोले—"देवीजी! अब क्या करें।"

पंचायत की प्रधान पंचिनी मोहिनी बोलीं—"अच्छा सब उस बड़े भवन में बैठ जाओ।"

मोहिनी की आज्ञा पाते ही अत्यन्त शीघ्रता के साथ सब जाकर विशाल भवन में बैठ गये। अब देवाताओं का साहस छूट गया, भगवान् के आश्वासन को भूल गये उन्होंने सोचा—"यह स्त्री सब को अमृत बाँट रही है। चलो, हम भी चलें। सम्भव है हमें भी दया करके कुछ दे दे।" यह सोचकर वे भी दौड़े-दौड़े गये और असुरों में मिलकर बैठ गये। असुर सबके सब उत्सुकता के साथ पूर्व की ओर मुख करके कुशाओं को बिछाये अमृत की प्रतीक्षा कर रहे थे। देवता भी उन्हीं में मिल गये।

वह विशाल भवन मणि माणिक्य और सुवर्ण आदि से बना हुआ था। चारों ओर से उसमें कल्पवृक्ष के पुष्पों की दिव्य मालायें लटक रही थीं अगरु, घृत, चन्दन का चूरा और कपूर की धूप से वह विशाल भवन सुवासित हो रहा था, सब बार-बार मुड़-मुड़ कर देख रहे थे, कि अभी देवीजी ने पदार्पण नहीं किया। अभी मोहिनी ने भवन में प्रवेश नहीं किया। इतने

में ही सबने क्या देखा कि सुवर्ण के नूपुरों की झन्कार करती हुई मोहिनी देवी आ रही हैं। गज शावक की सूड़ के समान सुन्दर सुडौल उतार चढ़ाव ऊरूओं के ऊपर नितम्ब देश में दिव्य पतला पीताम्बर पहिने हुए हैं। उस दिव्य दुकूल में से उनकी आभा फूटी ही पड़ती हैं। यौवन के मद से त्तत्त नयनों से वे चंचलता पूर्वक चारों ओर निहार रही हैं, कठिन और उन्नत वक्ष का अरुण अम्बर हिल हिलकर कामियों के चंचल चित्त को और भी विह्वल बना रहा है। राजन्! शृंगार लीला के प्रवाह में आप जैसे भक्त बहते नहीं। वे इस बात को कभी नहीं भूलते ये कुम्भस्तनी और कोई कामिनी नहीं हैं साक्षात् श्रीहरि ने ही लीला से असुरों को मोहने के लिये ऐसा मनमोहक रूप बना लिया है। भक्त इस मोहक रूप को प्रणाम करते हैं और कामी इसमें फँस जाते हैं।

हाँ तो राजन्! मोहिनी भगवान् के कानों में कुण्डल हिल रहे थे कर्ण समान, सुन्दर और लघु थे, नथ से भूषित नासिका नयनाभिराम थी, कुण्डलों की आभा से कपोल दमदम दमक रहे थे, कंठ में पड़े बहुमूल्य मोती चमचम चमक रहे थे। मनोहर मुखारविन्द पर ओस के कण के समान श्रम से श्वेत विन्दु झलमलाकर उसकी शोभा को सहस्रगुणी बढ़ा रहे थे। वे देखने में लक्ष्मीजी की कोई स्नेहमयी श्रेष्ठ सखी सी जान पड़ती थीं। राजन्! उनकी मधुर मुस्कान में जादू था चितवन में विचित्र टौना था भीतर घुसते ही वायु ने उनके वस्त्र के अंचल को खिसका दिया। क्रीड़ा पूर्वक एक हाथ से अमृत कलश को साधती हुई वे अञ्चल को सम्हालने लगीं। हाथ घिरे रहने से तथा वायु के वेग से सम्हलने के स्थान में वह और अधिक खिसक गया। उस समय उनकी परवशता पूर्वक भावभंगी और

सलज्ज मन्दस्मित पूर्ण चितवन से समस्त सुर और असुर विमोहित बन गये। किसी को अपने शरीर की सुधि नहीं रहीं।

इस समय उनके मुख पर अधिकार के गुरुत्व के कारण गम्भीर तेज था। वे अपनी अत्यन्त पतली वाणी से अधिकार पूर्ण स्वर में देवताओं को देखकर घुड़कती हुई बोलीं—"पीले-पीले वस्त्रों वाले तुम लोगों में ये कौन आ गये।

असुरों ने नम्रता पूर्वक कहा—"देवीजी! ये भी हमारे भाई हैं।

डाँटकर मोहिनी रानी बोलीं—"भाई होने से क्या हुआ! ये यहाँ क्यों बैठ गये हैं ?"

इस पर असुरों ने कहा—"बाईजी! हम और इन दोनों ने ही मिलकर समुद्र मथा है। यही नहीं समुद्र मथने की सम्मति भी इन्होंने ही दी थी। हम दोनों ने मथने में समान श्रम किया है।" मोहिनी भगवान् बोले—"तो क्या इनको भी अमृत देना होगा ?"

असुरों ने अत्यन्त स्नेह के स्वर में कहा—"यह आपकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। हमने तो आप पर ही सब छोड़ दिया है।"

इस पर देवताओं से घुड़कते हुए मोहिनी मोहन बोले—"तुम सब लोग पीछे हट जाओ असुरों से पृथक बैठो।"

देवता अपना सा मुँह लिये चूतड़ों के बल घिसक कर कुछ दूर हट गये। उन्हें डाँटती हुई मोहिनी बोली—"तुम लोग वैसे नहीं मानोगे रे! लात का देवता बात से नहीं मानने का। सीधे से उठकर वहाँ दूर जाकर बैठो।"

देवताओं को निराशा होने लगी। इतनी सुन्दरी कोमलाङ्गी अकेली ही हम सब पर शासन कर रही है और हम सब

देवता असुर चूहे की तरह भयभीत हुए ईसके संकेत पर नाच रहे हैं, किन्तु करें क्या अमृत का कलश तो इसके हाथ में है। बिचारे उठकर दूर जा बैठें। दैत्य मन ही मन प्रसन्न हुए। देखो, इनमें पक्षपात नहीं है कैसा तेज है, कैसी निर्भीक होकर आज्ञा दे रही है। वे भी देवताओं को डाँटने लगे—"अरे, तुम लोग मानते क्यों नहीं हो ? देवीजी जो कहें उसका अविलम्ब बिना ननु नच किये पालन करो।"

देवता क्या करते दूर जाकर बैठ गये। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! जो भगवान् पर विश्वास न करके लालच करते हैं, उन्हें इसी प्रकार अपमानित होना पड़ता है।"

देवता अब दूर जाकर बैठ गये। अपने समीप की बड़ी पंक्ति में तो मोहिनी भगवान् ने असुरों को बैठाया और बहुत दूर पर देवताओं को बिठाया। जब दोनों का विभाग हो गया देव दैत्यों की दो पृथक्-पृथक् पंक्तियाँ बैठ गईं, तब कमल की पंखड़ियों के समान अपनी कोमल और लाल-लाल पतली-पतली उँगलियों को हिलाती हुई, अपने हाव-भाव कटाक्षों से असुरों को रिझाती हुई, कोकिल कूजित कंठ से, मोहिनी देवी मुस्कराती हुई बोली—"अजी, कश्यप वंश वालो ! तुम मेरी एक बात सुनो। देखो, भूखे आदमी की दृष्टि बड़ी बुरी होती है। कोई सुन्दर वस्तु खा रहे हों और किसी भूखे लालची की उस पर दृष्टि पड़ जाय, तो वह वस्तु पचती नहीं। देखो ये देवता बड़े भुक्कड़ हैं। ये कैसे अमृत की ओर टुम्म-टुम्म देख रहे हैं। मेरी इच्छा होती है, पहिले ऊपर से पतला-पतला चुल्लू-चुल्लू भर अमृत इन्हें पिला दूँ। पीछे से नीचे का गाढ़ा-गाढ़ा तुम्हारे लिए बच जायगा इससे दृष्टि दोष भी बच जायगा और अन्याय भी न होगा। इन्होंने भी तो परिश्रम किया ही है।"

असुरों के हृदय को तो मोहिनी ने अपनी प्रणय पूर्ण चितवन से चुरा ही लिया था, उन्हें तो अपने कुटिल कटाक्षों से मन्त्र मुग्ध बना ही लिया था, अतः वे प्रसन्नता पूर्वक बोले— "बाईजी! आपकी जैसी इच्छा हो वैसा ही करें। हमे तो कुछ कहना ही नहीं।"

असुरों की ऐसी बात सुनकर, कलश के भार में लचती हुई, सब पर कुटिल दृष्टि फेंकती हुई वह कपट नारी मन्द-मन्द गति से देवताओं की ओर चली। देवताओं के प्राणों में प्राण आये। उन्होंने सोचा—"डाँट फटकार मिली सो मिली, किन्तु अब अमृत भी मिलेगा।"

यह सोचकर वे पालथी मारकर बैठ गये। मोहिनी भगवान् ने आते ही देवताओं को भर-भर पेट अमृत पिलाना आरम्भ किया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! दैत्यों की उपेक्षा करके भगवान् अपने आश्रित देवताओं को ही सन्तुष्ट करने लगे। उन्हें ही अमृत से छकाने लगे।"

छप्पय

हाव भाव वर कुटिल कटाच्छनितैं मन मोहै।
वैंणी झोटा खाइ कलश करमहँ शुभ सोहै॥
भूलि न जावैं भूप! फिरै जो भामिनि सुन्दर।
नाहिं कामिनी अन्य स्वयं मायावी नटवर॥
असुर मोहिनीने ठगै, अमृत पिआयो सुरनिकूँ।
समुझि सकैं को जगत महँ, तिरियनि के चक्करनिकूँ॥

———

सुरों को अमृत पिलाकर मोहिनी का मोहन बन जाना

(५३२)

पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवाँल्लोकभावनः ।
पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः ॥
(श्री भा० ८ स्क० ९ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

राहु समुझि हरि कपट देव बनि रवि शशि ढिँग गई ।
बैठ्यो पीयो अमृत जानि मार्यो प्रभु तबई ॥
राहु केतु द्वै अमर भये ग्रह संग बिराजैं ।
नवग्रह तबतैं भये असुर सुरवत् बनि भ्राजैं ॥
अमृत सुरनिकूँ प्याइकैं, असुरनि सींग दिखाइकैं ।
त्यागि मोहिनी रूपकूँ, बनै पुरुष पुनि आइकैं ॥

यह शास्त्रों का सुदृढ़ सिद्धान्त है, कि भाग्य के बिना न विद्या फलवती होती है और न पौरुष । भाग्य में हो तो छप्पर फाड़ कर धन आ जाता है । भाग्य में न हो, तो घर में रखा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब सब देवता अमृत पी चुके, तब लोक भवन मोहिनी भगवान् समस्त दैत्याधिपतियों के देखते ही देखते स्त्री से पुरुष हो गये । उन्होंने अपना यथार्थ रूप धारण कर लिया ।"

सुवर्ण मिट्टी हो जाता है। सुनते हैं महाराज नल जब विपत्ति के समय अपने किसी राजा के घर गये, तो राजा ने उसका स्वागत किया एक बड़े सुन्दर भवन में ठहराया। रात्रि में वे क्या देखते हैं कि एक खूँटी पर रत्नों का एक नौलखा हार टँगा है उस हार को खूँटी निगल रही है। राजा ने समझ लिया.हम अब किसी परिचित के घर रहने योग्य भी नहीं रहे। भाग्य हमारे विपरीत है। प्रातः सब लोग यही कहेंगे महाराज नल ने ही निर्धनता के कारण हार चुरा लिया। खूँटी हार को निगल गई इसे कौन विश्वास करेगा।" यह सोचकर वे उसी समय वहाँ से चले गये। ऐसी ही एक कथा और भी है। दो भिक्षुक थे। एक तो कहा करता था "जिसे न दे हरि, उसे क्या देगा भूपति" दूसरा कहता था "जिसे न दे भूपति उसे क्या देगा जगतपति" राजा दोनों की बात सुनता। राजा आस्तिक था, उसने एक दिन दोनों को बुलाया और बड़ी-बड़ी लम्बी-लम्बी लौकी मँगाई उनमें बड़ी युक्ति से सौ-सौ सुवर्ण मुद्रायें रख दीं। फिर उन दोनों को एक-एक लौकी बिना बताये दे दीं। जो राजा की ही प्रशंसा करता था वह तो अन्न लेने के निमित्त गया और एक सागवाली के यहाँ उसे चार पैसे में बेंच आया। जो भगवान् के भरोसे पर रहता था, वह उसे घर ले गया। घर में उसकी स्त्री ने आज बहुत दिन में भगवान् ने लौकी भेजी है, मेरे यहाँ चना की दाल रखी है, एक ऐसी ही लौकी और ले आओ तो आज भर पेट लौकी चना की दाल खायें। भिक्षुक बाजार में गया। संयोग की बात उसी साग वाली के यहाँ पहुँचा और उसी लौकी को ६ पैसे में ले आया। दोनों को फाड़ा तो उनमें से १००।१०० सुवर्ण मुद्रायें निकलीं। दूसरे दिन राजा ने बुलाकर पूछा, तो दोनों ने सब सत्य समाचार

सुना दिया। तब राजा बोला—"यह बात सत्य है कि जिसे न दे हरि उसे क्या देगा भूपति।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान ने तो असुरों को ठगने के लिये ही यह ठगिनी मोहिनी रूप बनाया था। असुर उनके रूप जाल में फँस गये अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मार ली। वह मोहिनी माया इन्हें उलटी पट्टी पढ़ाकर देवताओं को अमृत पिलाने लगी। असुरों में भी बड़े बड़े बुद्धिमान थे वे उस कपट स्त्री के भाव को ताड़ गये उसके बाँटने के ढंग से ही समझ गये, कि कुछ दाल में काला है। वे आपस में काना फूँसी करने लगे। जो उसके रूप पर अत्याधिक आसक्त थे वे उन लोगों को डाँटते हुए बोले—"देखो, जी! यह बात उचित नहीं। जब तुमने उसे सर्वाधिकार दे रखा है, तब वह चाहे जो करे। तुम उसकी आलोचना करने वाले कौन होते हो। यह तो प्रेम का तिरस्कार ने। स्नेह में संदेह को स्थान नहीं। चुपचाप बैठे रहो, जो वह करे करने दो।" यह सुनकर वे लोग भी चुप हो गये। सोचने लगे स्त्री से कौन लड़ाई झगड़ा करे। करने दो जो उसे करना है, फिर हमने ही कुछ कहा तो हमसे ही बिगड़ जायगी। यह सोचकर सबके सब चुपचाप बैठे रहे। कुक ने सोचा देवता भी तो अपने भाई ही हैं, पीने दो उन्हें ही जिसका भला हो उसी का सही।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ये देवता, दैत्य दानव आदि सब सगे भाई ही तो हैं। कश्यप भगवान् की अदिति दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला, मुनि क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि ये १३ पत्नियाँ थीं। जिनमें अदिति से आदित्य अर्थात् देवता हुए। दिति से हिरण्यकशिपु

आदि दैत्य हुए और दनुके गर्भ से, शम्बर प्ररिष्ठ विप्रचित्त आदि दानव हुए दनुके पुत्र विप्रचित्त का एक लड़का था, जिसका नाम राहु था। वह दानव बड़ा बुद्धिमान था। अमृत के लिए वह अत्यन्त ही लालायित था। वह दूर बैठा मोहिनी भगवान् की गति विधि निहार रहा था। मोहिनी भगवान् जिस ढंग से देवताओं को अमृत पिला रहे थे उसी से वह समझ गये कि असुरों को अमृत नहीं मिल सकता। अतः वह मायावी दैत्य चुपके से देवताओं का सा स्वरूप बनाकर सबसे पीछे सूर्य और चन्द्रमा के बीच बैठ गया। मोहिनी देवी अब शीघ्रता कर रही थीं। सबको पिला चुकी अंत के दो तीन ही शेष थे। कपट व्यवहार में पग-पग पर शंका रहती है। वे सब को पिलाकर भाग जाने का उपक्रम कर रही थी। उसी शीघ्रता में सूर्य को भी दिया बीच में देवता बने राहु को भी दिया और चन्द्रमा को भी दिया सूर्य चन्द्र ने पीते पीते भगवान् से शीघ्रता पूर्वक कहा—“बाईजी! यह हमारी जाति का नहीं है यह तो दानव है।”

इतना सुनते ही मोहिनी भगवान् ने तत्क्षण अपने चक्र से उसका सिर काट दिया। अब काटने से क्या होता है। अमृत तो कंठ से नीचे उतर चुका था। अतः सिर भी अमर हो गया और धड़ (केतु) भी अमर हो गया। यह तो लाभ में ही रहा। एक का दो हो गया। भगवान् अब क्या करते राहु, केतु दोनों को ग्रह बना दिया पहिले रवि, सोम, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि ये सात ही ग्रह थे अब दो राहु केतु और मिलाकर नव ग्रह हो गये। यद्यपि ये दानव होंने से क्रूर ग्रह हैं फिर भी देवताओं में तो इनकी गणना हो ही गई। जहाँ भी समस्त वैदिक कामों में ग्रहों का पूजन होता है वहाँ अन्य

के साथ राहु केतु भी पूजे जाते हैं। राहु तो दानव ही ठहरा सूर्य चन्द्रमा ने जो उसे बता दिया इसलिये वह अब तक सूर्य चन्द्र से वैर मानता है। जब इसे अवकाश मिलता है तभी पूर्णिमा और अमावस्या के दिन यह मुँह फाड़कर सूर्य चन्द्रमा को निगल जाता है। किन्तु, इसका निगलना व्यर्थ होता है। जैसे किसी के कंठ में छेद हो जाय और भोजन पानी पीते ही उससे निकल जाय। उसी प्रकार धड़ न होने से ज्यों ही यह सूर्य चन्द्रमा को लीलता है त्यों ही वे बाहर निकल आते हैं। पेट होता तो उसमें चले जाते। इसीलिये ग्रहण थोड़े ही काल के लिये होता है। यह तो ग्रहण का अधिदैविक रूपक है। अध्यात्म भाव यह है, कि अज्ञान कुछ काल के लिए प्रकाश ज्ञान को ढक लेता है, किन्तु कुछ काल में ज्ञान पुनः प्रकाशित हो जाता है। आधिभौतिक के अर्थ तो सभी जानते हैं पृथिवी की छाया पड़ने से सूर्य चन्द्र ग्रह दिखाई नहीं देते, धुँधले हो जाते हैं ये कहीं न चले जाते हैं न इन्हें कोई निगलता है।

हाँ तो राजन्! इस प्रकार अमृत बाँट कर राहु के चक्र से दो ग्रह बनाकर, दैत्यों की ओर मुड़कर उन्हें अंगूठा दिखाकर, अमृत के कलश को वहीं रखकर भगवान् मोहिनी से मोहना हो गये। कड़े, छड़े, नथ, नक बेसर, बिछुआ, चूरी फेंक कर स्त्री से पुरुष बन गये देवी से देवा हो गये। महरारू से मनसेधू बन गये। दैत्यों ने अब समझा अरे यह तो मायावी विष्णु निकला। वे अपने भाग्य को ठोंकते हुए पछताने लगे, किन्तु "अब पछिताये होता क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।"

छप्पय

ठगिया है यह विष्णु समुझि पुनि दैत्य रिस्याने ।
खिसियाये करि कोप अस्त्र देवनिपै ताने ॥
अमृत हेतु इक काल कर्म सबने सम कीयौ ।
कोरे दानव रहे अमृत देवनिने पीयो ॥
हरि हिय धरि श्रद्धा सहित, कर्म करैं जे भक्तितैं ।
उत्तम फल पावैं अवसि, मनमोहन की शक्ति तैं ॥

श्रीहरि के कपट व्यवहारका कारण

(५३३)

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-
हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपु-
र्यत्पादपङ्कजरजः श्रयणान्न दैत्याः ॥*

(श्री भा० ८ स्क० ९ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

अबला रूपी परम प्रबल माया है भारी ।
मोहे सुर अरु असुर इन्द्र ब्रह्मा त्रिपुरारी ॥
मित्र शत्रु बनि जायँ नृपति सर्वस्व गँवावैं ।
सहज प्रेम तजि बन्धु नारिहित लरिमरि जावैं ॥
पुरुषनि नारायन लखैं, नारिनिकूँ लक्ष्मी गनहिँ ।
ते साधारन नर नहीं, कवि तिनकूँ हरि ही भनहिँ ॥

जिस भावना से कर्म किया जाता है, वैसा ही उसका फल होता है। आर्य शास्त्रों में कर्म को प्रधानता नहीं दी है। भाव

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् इस प्रकार देश, काल, हेतु, अर्थ, कर्म और मति के समान होने पर भी सुर और असुरों के कर्म फल में भिन्नता हो गई। देवताओं को उन श्रीहरि के पाद पंकजों की परिचर्या के प्रभाव से सुगमता पूर्वक अमृत मिल गया, किन्तु असुर गण उस अमृत से वञ्चित ही रह गये।"

को प्रधानता ही दी है। भगवान् भावमय ही हैं। जो भगवान् को भूल कर केवल कर्मों में ही आसक्त रहते हैं। वे जडत्व को प्राप्त होते हैं। क्योंकि कर्म जड़ है। जड़वाद के पोषक जड़ता को ही प्राप्त करेंगे। किन्तु जो कर्म तो करते हैं, किन्तु कृष्णार्पण बुद्धि से करते हैं। भगवद् भाव से भावित होकर कर्तव्य बुद्धि से उनकी आज्ञा मान कर भगवत् सेवा समझकर कर्म करते हैं वे भगवान् को प्राप्त होते हैं, वे जड़ता से ऊँचे उठ जाते हैं, क्योंकि वे श्रीहरि चैतन्य स्वरूप हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! सब प्रकार असुरों की वंचना करके भगवान् ने देवताओं को अमृत पिलाया। यद्यपि समुद्र मन्थात रूप कार्य में पुरुषार्थ देवता असुर सभी ने समान किया। दोनों ने क्षीर सागर के तट पर एक ही स्थान में प्रयत्न किया। एक ही समय में एक ही हेतु से समुद्र मथा। कर्म भी दोनों का एक सा ही था। पुरुषार्थ में भी कोई अन्तर नहीं था, किसी ने अपने कर्म में असावधानी भी नहीं की। दोनों ने ही मथा यथामति लगन के साथ हृदय से परिश्रम किया। परिश्रम का फल भी हुआ अमृत भी निकला, किन्तु भोग में भेद हो गया। देवता अमृत पी गये दैत्य देखते के देखते ही रह गये।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! क्या यह अन्याय नहीं हुआ? क्या इससे भगवान् का पक्षपात सिद्ध नहीं होता दैत्यों के साथ भगवान् का यह विश्वासघात कहाँ तक उचित है। बेचारों ने विश्वास करके भगवान् को कलश थमा दिया और भगवान् उन्हें बहका कर देवताओं की ओर चले गये। उन्हें आशा में लटकाये रखा। अन्त, तक उनसे कहते रहे—अब देंगे अब देंगे।" अन्त में कुछ न देकर भाग गये?

फिर भगवान् समदर्शी कहाँ रहे । जगत् के समान भाव से पालन कर्ता उन्हें कैसे कहा जा सकता है ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज ! आपका कहना तो सत्य है, किन्त, कोई साधारण आदमी करता तो ये सब अभियोग उचित भी थे। भगवान् में यह सब लागू नहीं।"

शौनक जी बोले—"सूतजी ! यह तो आप भी पक्षपात कर रहे हैं। बड़े हों, छोटे हों, अधर्म सब के लिये अधर्म है, धर्म सबके लिये धर्म है। भगवान् के लिये देवता असुर सब एक से थे। उन्हें ऐसा भेद भाव पक्ष पात नहीं करना चाहिये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान् द्वेषवश पक्षपात नहीं करते। वे सर्वज्ञ हैं, इस बात को वे ही जान सकते हैं, कि किस काम के करने से किसका कैसे कल्याण होगा । देखिये एक माता के १० पुत्र हैं उसके लिये दशों समान हैं, दशों को समान प्यार करती है, फिर भी भोजन देने में पक्षपात करती है । जो बीमार है उसे मूँग की दाल का पानी ही देती है। जो बहुत छोटा है, उसे मेद घटाने को सूखी रोटी, मठा और शहद का शरबत देती है, दुबला पतला है उसे घी दूध अधिक देती है। जो बुड्ढा है उसे कोमल वस्तु देती है, किन्तु उसका प्रेम सबमें समान है। वह जानती है कौन सी वस्तु से किसका कल्याण होगा। उद्देश्य उसका सभी का भला करना ही है । दूसरा दृश्टान्त लीजिये वाटिका में माली अपने सभी पेड़ पौधों को प्यार करता है, सभी की रक्षा करता है, किन्तु इस बात को वही जानता है, किस पौधे का क्या करने से कल्याण होगा किसी को वह काट देता है, किसी को छाँट देता है, किसी को कहीं से उठाकर कहीं रख देता है। किसी को बहुत पानी देता

है, किसी में कम, किसी में देना ही नहीं। काटने में उसका भाव दुष्ट नहीं होता, किन्तु ऐसा करने से ही वह वाटिका की उस वृक्ष की वृद्धि समझता है, देखने में वह निर्दयी जान पड़ता है, किन्तु उसके हृदय में कल्याण की ही भावना छिपी हुई है। भगवान का कार्य है, विश्व की रक्षा करना उन्होंने सोचा इन दैत्यों को अमृत पिला देंगे, तो ये प्रजा को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते रहेंगे। जैसे सर्प को कितना भी दुग्ध पिलाया जाय, उसका विष ही बढ़ेगा। असुरों को अमृत पिलाना मानों संसार का अनिष्ट करना था। अतः जगत् पति प्रभु ने विश्व कल्याणार्थ असुरों को अमृत पिलाना अनुचित समझा। रही समान पुरुपार्थ की बात। सो, पुरुषार्थ भी वही सफल होता है, जो भगवान् का भरोसा रखकर किया जाता है। जो श्रीहरि के चरण कमलों का आश्रय ग्रहण करते हैं, उनका पुरुषार्थ तो सफल होता ही है, किन्तु जो अभिमान में भरकर अपने को ही कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता समझते हैं उनके पुरुषार्थ का फल तो निकलता है, किन्तु वे उसका उपयोग नहीं कर सकते। फल भोगने वाला दूसरा ही होता है। एक साथ दो भाई व्यापार करते हैं दोनों को समान लाभ होता है। एक तो उस धन से दान पुण्य करता है, सुखोपभोग की समिग्रियाँ इकट्ठी करता है। आनन्द से रहता है, बालबच्चों को परिवार वालों को खिलाता पिलाता है। दूसरा न स्वयं खाता है, न घर वालों को खाने देता है। जोड़ जोड़ कर रख जाता है, पीछे उसका उपभोग अन्य करते हैं। सो, महाराज! पुरुषार्थ का फल तो होता ही है फल का उपभोग वही कर सकता है जिसे प्रभु करावें। जिसपर प्रसन्न होकर अमृत रूप फल पीने को दें। देवताओं को एकमात्र भगवान का आश्रय था। भगवत

आज्ञा समझकर कर्तव्य बुद्धि से उन्होंने पुरुषार्थ किया। दुःख पड़ा तो भगवान् का ही स्मरण किया। जो निकला भगवान् को ही अर्पण कर दिया। भगवान् ने जो प्रसाद रूप में दे दिया इसे ही अर्पण कर दिया। भगवान् ने जो प्रसाद रूप में दे दिया उसे ही स्वीकार किया। लोभ नहीं किया प्रत्येक वस्तु पर मन नहीं चलाया। अमृत को जब असुर ले गये। तब भी भगवान् की शरण में गये। इसके विपरीत असुर लालच वश समुद्र मथने आये थे। बात बात भगवान् का विरोध करते रहे। उन्होंने अपने बल पौरुष को मुख्य समझा अमृत के निकलते ही लालच वश देवताओं का तिरस्कार करके भगवान् धन्वन्तरि के हाथ से अमृत लेकर भाग गये। धन्वन्तरि भगवान् तो पुरुष ठहरे, बिना विरोध किये दे दिया। अब देवता भगवान् की शरण गये, तो भगवान् ने कहा—"भैया! अब पुरुष रूप से काम न चलेगा। अब तो मोहिनी बनकर ही अमृत छीना जा सकता है। इसलिये एक अद्भुत विचित्र अवतार धारण करके उन असुरों को ठग लिया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! भगवान् ने स्त्री का अवतार क्यों धारण किया।"

हँसकर सूतजी बोले—"क्यों महाराज! स्त्री का अवतार बुरा होता है क्या? दुर्गा, काली, पार्वती, लक्ष्मी, तथा सरस्वती आदि जगन्मातायें स्त्रियाँ होती हैं। ये सब भी तो शक्तियाँ हैं शक्ति के बिना शक्तिमान क्या कर सकता है। शिवा के बिना शिव शव के समान हैं।"

शीघ्रता से शौनक जी बोले—"नहीं सूतजी! मेरा यह अभिप्राय नहीं है, कि स्त्री अवतार कुछ बुरा है। किन्तु महाराज! तीन तीन तो अवतार धारण कर लिये फिर चुरी

बिछिया पहिनकर स्त्री वेष बनाकर कपट का व्यवहार करना भगवान् को तो शोभा देता नहीं।"

सूतजी यह सुनकर बहुत हँसे और हँसते हँसते ही बोले— "अब महाराज ! यह तो भगवान् से पूछो कि उन्होंने ऐसी लीला क्यों की। रही शोभा की बात, सो महाराज ! बड़े लोग जो भी करें उसीमें उनकी शोभा है। बताइये, सूअर बनाना कुछ अच्छी बात है भगवान् ने सूकरावतार धारण किया। जल तुरई कहकर लोग जिन्हें उड़ा जाते हैं उस मछली का अवतार भगवान् को शोभा देता है ? आधे पुरुष आधेसिंह बनकर किसी की आंत निकाल कर उसकी माला बना लेना यह भगवान् को उचित है ? महाराज ! भगवान् की लीला के विषय में यह नहीं कहा जा सकता यह उचित है या अनुचित है। जिसमें उचित अनुचित का विचार हो यह क्रीड़ा ही क्या हुई। लीला में तो जब जैसी आवश्यकता होती है वैसा ही रूप रखना पड़ता है। लड़का खेलते २ क्यों रो पड़ता है, क्यों हँसा जाता है, क्यों रुपया फेंक देता है, क्यों फूल को उठा लेता है, क्यों गोदी से उतर कर कीच में लोटने लगता है, क्यों साँप को पकड़ने दौड़ता है ? खेल ही जो ठहरा। भगवान् की इच्छा हो गई स्त्री बन गये।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है, लक्ष्मीजी बार बार रूठ जाती होगीं भगवान् बार बार उन्हें मनाते होंगे, एक दिन मन में आई होगी लाओ स्त्री बनकर भी देख लें। देखें मुझमें लक्ष्मीजी जैसा आकर्षण आता है या नहीं। इसीलिये उन्होंने श्रीसखी का वेष बनाकर अपने आकर्षण की परीक्षा की होगी।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि, पुरुष बड़े कठोर होते हैं, उनसे परिचय होने में विलम्ब लगता है। स्त्री का

मृदु स्वभाव होता है जहाँ दृष्टि से दृष्टि मिली दो मीठी बातें हुई कि घनिष्टता हो गई। भगवान् को तो तत्काल अमृत लेना था।

सबसे प्रधान कारण यही जान पड़ता है। भगवान् ने देखा इस समय ये युद्ध करके जीते नहीं जा सकते। धन के लोभ के वश में हो नहीं सकते। धन की इन्हें कमी नहीं। आपस में इनमें फूट डाली नहीं जा सकती। क्षण भर में ही ये अमृत को पीजायेंगे ये लोग बड़े कामी हैं, कामी को वश में करने का एक मात्र उपाय है, अत्यधिक सुन्दरी कामिनी। भगवन्! सौन्दर्य रूपी दीप की ज्योति में बड़े-बड़े वीर पतंगों की भाँति भस्म हो गये हैं। जो अस्त्रों से, शस्त्रों से, बल से, पराक्रम से नहीं जीते जा सके हैं, उन्हें स्त्रियों के एक कटाक्ष ने जीत लिया है! भगवन्! यह स्त्री रूप भगवान् की ऐसी मोहिनी माया है कि यही विश्व को नचा रही है। माया, अविद्या, यही तो संसृति का कारण है। रावण जैसे वीर पराक्रमी को जीतने का साहस किसमें था, यदि वह जगज्जननी सीता के ऊपर कुदृष्टि न करता तो। देखिये सुन्द-उपसुन्द दोनों भाई कितने बली थे, कैसे योद्धा थे, त्रैलोक्य विजयी थे, दोनों भाइयों में परस्पर कैसा प्रेम था, किन्तु एक स्त्री के पीछे उनका विनाश हो गया। सो महाराज! मोहिनी भगवान् को उन दैत्यों को मोहना था इसीलिये यह शृंगार रस की छटा दिखा दी सरसता की धारा बहाकर उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! ये सुन्द-उपसुन्द कौन थे, किस स्त्री के कारण इसका सर्वनाश हुआ यदि आप उचित समझें तो इस कथा को हमें सुना दें।"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! मैं आपको

इस शिक्षाप्रद इतिहास को सुनाता हूँ, आप सब इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

जग रक्षाके हेतु विष्णु अवतारनि धारैं।
भक्तनिको करि त्राण दुष्ट दैत्यनिकूँ मारैं॥
ऊँच नीच लघु ज्येष्ठ भेद उन महँ कछु नाहीं।
कच्छ मच्छ नर नारि, कबहुँ सूकर बन जाहीं॥
शिव स्वरूप मंगलभवन, जीव मात्रके सुहृद हरि।
करैं विश्व कल्याण नित, विविध भाँति के वेष धरि॥

विषयासक्ति में ही मृत्यु है

(५३४)

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-,
देंहात्मजादिषु नृभिस्तदसत्पृथक्त्वात्
तैरेवसद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वात्,
सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत् ❀

(श्री भा० ८ स्क० ९अ० २९ श्लो०)

छप्पय

सुन्द और उपसुन्द बन्धु दोऊ अति प्यारे।
एक प्रान द्वै देह होहिँ कबहुँ नहि न्यारे॥
उग्र तपस्या करी कठिन वर विधितैं पाये।
जीते तीनहु लोक स्वर्गतैं अमर भगाये॥
विश्व विजय करि विषय सुख महँ दोनों ही फँसि गये!
मृत्यु गर्तमहँ गर्वतैं, असुर मोहवश धँसि गये॥

अपने तप से, बल से, पराक्रम से, विद्या से तथा अन्य

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मनुष्य अपने प्राण, धन, कर्म, मन और वाणी आदि से देह तथा पुत्रादिकों लिये जो कर्म करता है वे पृथक बुद्धि से व्यर्थ ही हो जाते हैं, किन्तु अभेद भाव युक्त होकर जो प्राणादि के योग से कर्म किये जाते हैं वे सफल होते हैं। क्योंकि श्रीहरि के उद्देश्य से किया कर्म उसी प्रकार सब को तृप्ति करने वाला होता है, जैसे वृक्ष की जड़ में पानी देने से शाखा आदि सभी की तृप्ति हो जाती है।"

साधनों से चाहें जिसे जीत ले किन्तु जिसने काम को नहीं जीता, वह अन्त में कामिनी के विष बुझे कटाक्ष बाणों से बिँधकर मृत्यु के मुख में धँस जाता है। काम को वही जीत सकता है जो काम के पिता का किंकर बन जाता है। काम जनक के पादपद्मों का आश्रय ग्रहण करके अपनी जीवन नौका उनके ही अधीन कर देता है। तपस्या करके कितनी भी शक्ति संचय क्यों न करलो कैसे भी दुर्लभ वर प्राप्त क्यों न करलो, अन्त में तो काम का लक्ष्य बनना ही पड़ेगा। अतः संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में उन्हीं प्रभु को व्यापक समझकर त्याग भाव से धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करना चाहिये। अधर्म पूर्वक दूसरों की, वस्तु पर मन न डिगाना चाहिये। भूलकर भी काम के अधीन न होना चाहिये। जो काम के अधीन हो जाते हैं वे पीछे पछताते हैं।

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"ऋषियो! आप ने जो सुन्द उपसुन्द की मुझसे कथा पूछी है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ।

भगवान् कश्यप की दिति नामक पत्नी से हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष नामक दो दैत्य हुए। हिरण्याक्ष के वंश में एक निकुम्भ नामक बड़ा प्रतापी असुर हुआ। सुन्द उपसुन्द उसी निकुम्भ के प्रिय पुत्र थे। दोनों भाई परस्पर में बड़े ही स्नेह से रहते। दोनों साथ ही साथ नहाते, दोनों साथ ही साथ एक थाली में खाते दोनों साथ ही सिंहासन पर बैठते, साथ ही लेटते, साथ ही सोते, साथ ही समस्त राज्य, सुखों का उपभोग करते सारांश यह कि वे दोनों प्राण अपान के समान रहते। उनमें परस्पर में ऐसा प्रेम था, कि किसी भी बात में उन दोनों

में मत भेद नहीं होता था। वे जो भी काम करते साथ ही साथ करते।

दोनों ने अरण्य में जाकर साथ ही साथ घोर तपस्या की, निराहार रहकर स्वांस रोककर वे उग्र तप करने लगे। देवताओं ने उनके तप में भाँति-भाँति के विघ्न किये किन्तु वे दोनों भाई, उन विघ्नों से तनिक भी विचलित नहीं हुए। यही नहीं उनके कारण वे और भी कठोर तप करने लगे। उनके तप से तुष्ट होकर लोक पितामह ब्रह्माजी उनके समीप आये और वर माँगने को कहा। अपने सम्मुख लोक पितामह चतुरानन को देखकर वे दैत्य हाथ जोड़कर कहने लगे—"देव ! यदि आप हम पर सन्तुष्ट हैं तो हमें चार वर दीजिये। एक तो हम अमर हो जायँ, दूसरे हमें कोई जीत न सके, हमारे शरीर में अपार बल आ जाय। तीसरे बिना सीखे हमें समस्त अस्त्र-शस्त्र आ जायँ। चौथे हम इच्छानुसार रूप रख सकें।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो भाई ! सुनलो मेरी सच्ची सीधी बात। मैं और सब वर तो दे सकता हूँ। किन्तु अमरत्व प्रदान नहीं कर सकता। अमर तो देवता ही हैं, जन्मधारी को एक दिन मरना अवश्य है। अतः तुम अपने दीर्घजीवन के लिये जैसे चाहो वैसे बचाव करलो। अपनी मृत्यु का कोई असम्भव कारण सोच लो, उसे छोड़कर मैं सबसे तुम्हें अमर निर्भय बना दूँगा।

यह सुनकर उन दैत्यों ने सोचा—"हम दोनों में इतना प्रेम है, कि कोई भी हम में भेदभाव नहीं डाल सकता। किसी भी कारण से हम एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हो सकते। यही सब सोच समझकर वे बोले—"अच्छा भगवन् ! हम किसी

भी चराचर जीव से न मरें। यदि हमारी मृत्यु हो, तो परस्पर में लड़कर ही हो।"

ब्रह्मा ने कहा—"एवमस्तु! ऐसा ही होगा। ऐसा वर देकर वे चले गये। ब्रह्माजी के जाते ही उन दोनों के शरीर में अपार बल आ गया। अब तो उनका अभिमान अत्यधिक बढ़ गया। उन्होंने ऐसी सेना सजाकर सर्वप्रथम स्वर्ग पर चढ़ाई कर दी। देवताओं ने ब्रह्मा बाबा के विचित्र वरदान की बात सुन रखी थी। अतः वे उसके आते ही स्वर्ग से भाग गये। अनायास ही उन्होंने बिना लड़ाई भिड़ाई के स्वर्ग जीत लिया। अब तो उन्होंने तीनों लोकों पर विजय कर ली। दोनों वरदान के दर्प से संदर्पित हुए इधर-उधर घूम-घूमकर ब्राह्मणों को दुःख देने लगे उनके यज्ञों को विध्वंस करने लगे नाना रूप रखकर मुनियों को खाने लगे। उनके राज्य में यज्ञ याग करना असम्भव हो गया। सर्वत्र हाहाकर मच गया। धार्मिक कार्य लुप्त प्रायः हो गये। जनता में अनाचार कदाचार और व्यभिचार बढ़ गया। तीनों लोक उनके अधीन हो गये।

जब उनका कोई सामना करने वाला, लड़ने वाला नहीं रहा, तब तो वे संसारी भोगों में आसक्त हो गये। सुन्दर वनों और उपवनों में पर्वत की कंदरा ओर उपत्यकाओं में जा जा कर सुर सुन्दरियों के साथ काम क्रीड़ायें करने लगे। बहुत सी गन्धर्व किंपुरुष विद्याधर की कन्यायें गाकर बजाकर नृत्य करके उन्हें रिझातीं, उनको संगीत सुनाकर प्रसन्न करतीं. वे दोनों भी यथेच्छ वारुणी पान करके उनके साथ आमोद प्रमोद करते इस प्रकार विषय भोगों में लिप्त हो जाने से वे विषयासक्त बन गये। फिर भी उनमें ज्यों का त्यों प्रेम भाव बना हुआ था।

एक दूसरे को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। उनके कारण यज्ञादि धर्म कार्य सब बन्द हो गये थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो उन दुष्ट दैत्यों के अत्याचारों से दुखी होकर देवता ऋषि मुनि आदि मिलकर लोक पितामह ब्रह्माजी के पास गये और हाथ जोड़कर स्तुति विनय करके बोले—"विभो! आपने उन दुष्ट दैत्यों को कैसे कठिन वर दे दिये, वे तो सृष्टि के संहार पर ही उतारू हैं धर्म कर्म सभी को चौपट कर रहे हैं यदि उन्हें मारने का कोई उपाय नहीं किया जाता, तो वे संसार से धर्म हटा ही देंगे।"

देवता तथा ऋषियों की बात सुनकर सर्वज्ञ कमलासन कुछ काल मौन होकर उनके मारने का उपाय सोचते रहे? फिर बोले—"देवताओं और ऋषियों! यद्यपि उन्होंने तप के प्रभाव से दुर्लभ वर प्राप्त कर लिये हैं, तो भी मैं उन्हें युक्ति पूर्वक मरवा दूंगा। तुम किसी बात की चिन्ता मत करो।" यह कह कर ब्रह्माजी ने विश्वकर्मा को बुलाया और उनसे बोले—"हे विश्व कर्मन्! तुम सब वस्तुओं को बनाने में विशारद हो। तुम कोई ऐसी सुन्दरी प्रमदा बनाओ, जिसके समान त्रैलोक्य में कोई भी सुन्दरी न हो। आज ही तुम्हारी चातुरी की परीक्षा है।"

ब्रह्माजी के ऐसे उत्साहवर्धक वचन सुनकर विश्वकर्मा बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मनोयोग के के साथ विश्व की समस्त वस्तुओं से सुन्दर सौन्दर्य एकत्रित करके एक स्त्री की रचना की। वह स्त्री क्या थी सौन्दर्य रूप रत्नों की खान थी। तिल तिल करके सौन्दर्य एकत्रित करके उसका निर्माण बड़े चातुरी से किया गया था। असंख्यों रत्नों की आभा उसके रोम रोम में जड़ दी थी। उसके अंग में एक तिल भर भी ऐसा स्थान नहीं

था, जिसमें सौन्दर्य न हो सुषमा न रही हो। यौवन के भारसे मद माती अलसाती सभी को अपनी चितवन से विमुग्ध बनाती वह भगवान् ब्रह्मा के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ी हो गई और नम्रता के साथ बोली—हे "जगदीश्वर! मेरी रचना किस कारण से हुई? मुझे कौन सा कार्य करना है?"

ब्रह्माजी ने कहा—"हे सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी! तुम सुन्द उप-सुन्द के समीप जाओ और अपने रूप का जादू डालकर उन दोनों को फँसा लो। जिससे उनमें परस्पर में विरोध हो जाय। तुम्हें छोड़कर संसार में उन्हें न कोई जीत सकता है न मार सकता है। तुम्हारे अंगों में तिलभर भी स्थान ऐसा नहीं जो उत्तम न हो। अतः तुम्हारा नाम तिलोत्तमा ऐसा प्रसिद्ध होगा।"

यह सुनकर उस तिलोत्तमा ने ब्रह्माजी को प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके चलने को उद्यत हुई। मुनियो! उसके सौन्दर्य को देख कर सभी विमुग्ध हो गये थे। सभी उसे एकटक निहार रहे थे। यहाँ तक कि देवाधि देव महादेव भी उसे देखते रहे। श्रेष्ठ पुरुष ठहरे। छोटे पुरुषों की भाँति मुख मोड़कर कैसे देखते, अतः परिक्रमा करते हुए वह जिधर घूमती उधर ही शिवजी के मुख निकल आता ऐसे शिवजी के चारों दिशाओं में मुख हो गये। इन्द्र की दो नेत्रों से तृप्ति नहीं हुई अन्त में उनके अंग अंग से नेत्र निकल पड़े। वे सहस्राक्ष हो गये सारांश इतना ही है कि ब्रह्माजी को छोड़कर सभी देवता उसके रूप पर मुग्ध हो गये। तब सब ने समझा कि यह तिलोत्तमा विश्व विजयी सुन्द उपसुन्द दोनों को अवश्य ही अपने वश में कर लेगी।

ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर वह रक्त वर्ण की एक अत्यन्त पतली

साड़ी पहिने अलसाती, इठलाती, कमल घुमाती भौंहें मटकाती, कटाक्ष रूपी बाणों को चलाती, हावभाव दिखाती मद में मतवाली सी होकर उन दोनों भाइयों के समीप आई। वन्य प्रदेश में वासन्ती श्री छिटक रही थी। चारों ओर पुष्प खिल रहे थे, शीतल, मंद, सुगन्धित वायु चल रही थी, वृक्षों पर बैठी कोकिला कुहूँ कुहूँ कर रही थी। वे दोनों भाई गन्धर्व ललनाओं से घिरे आनन्द प्रमोद में लगे थे। गन्धर्व गा रहे थे, सुन्दर, से सुन्दर अप्सरायें नृत्य कर रही थीं, सहस्रों सुर सुन्दरी उन सर्व समर्थ सुररिपुओं की सेवा में समुपस्थित थीं। उसी समय उन दोनों भाइयों ने दूर पर खड़ी हुई तिलोत्तमा को देखा। वह मन्द मन्द हँसती हुई कटाक्ष पात कर रही थी सुन्द उपसुन्द सुरा के मद में मतवाले हो रहे थे, उनके नेत्र अत्यधिक आसव के पान से लाल लाल हो रहे थे। उन्होंने इस विघूर्णित नेत्रों वाली ललना ललाम को दूर से ही देखा। देखते ही वे दोनों काम के वश में हो गये और दोनों ही शीघ्रता से उसे पकड़ने दौड़े एक साथ दोनों उसके समीप चले गये। एक ने उसका बायाँ हाथ पकड़ा दूसरे ने दायाँ। और स्नेह भरी वाणी में दीनता पूर्वक उससे बोले—"हे त्रैलोक्य सुन्दरी! हम तुम्हारे अधीन हैं, तुम हम पर दया करो। हमें अपनाओ और अपना किंकर बनाओ।"

वह भय का नाट्य दिखाती, अलसाती, मदमाती बोली—मैं तो तुम लोगों से ऐश्वर्य और पराक्रम की प्रशंसा सुनकर आई ही हूँ, किन्तु तुम सर्व समर्थ होकर मेरे धर्म की रक्षा करो तुम दोनों में से कोई एक मुझे विधि पूर्वक ग्रहण करो। एक मुझे अपनी पत्नी बना लो।"

यह सुनकर सुन्द बोला—"उपसुन्द! तू इसका हाथ छोड़

दे। मैं इसके साथ विवाह करूँगा। मैंने इसे मन से पहिले ही वरण कर लिया है अतः धर्मतः यह मेरी पत्नी होने से तेरी माता के समान है।"

उपसुन्द तो उस पर ऐसा अनुरक्त हो गया था, कि प्राणों के रहते उसे कभी छोड़ने वाला नहीं था। वह क्रोध से लाल लाल आँखें करके बोला—"भाई जी! आप कैसी धर्म विरुद्ध बातें कर रहे हैं। इसका सर्वप्रथम हाथ तो मैंने पकड़ा है। मेरी पत्नी होने से आपकी पुत्रवधू के समान है। इसे आप छोड़ दें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब क्या था। कलह का बीज बोगया। दोनों दूसरे को कुवाच्य कहने लगे। फिर अस्त्र शस्त्र लेकर युद्ध करने लगे। युद्ध करते-करते दोनों ही मरकर पृथिवी पर गिर पड़े। देवताओं ने जय जयकार किया। अप्सराओं ने पुष्प वृष्टि की, ब्रह्माजी ने तिलोत्तमा की प्रशंसा की। सूर्य मण्डल के साथ घूमने का और सर्वश्रेष्ठ सुर सुन्दरी होने का वर दिया। जिस कार्य को ब्रह्मादि देवता भी न कर सके उसे तिलोत्तमा मोहिनी देवी ने क्षण भर में कर दिखाया। "बोल दे मोहिनी देवी की जय"

सूतजी कहते हैं--"सो मुनियो! भगवान तो जानते थे, ये असुर मोहिनी बिना वश में नहीं हो सकते। अतः वे मोहिनी बन गये। चाहे मोहिनी बनें या मोहना उनकी समस्त चेष्टायें संसार के कल्याण के ही निमित्त होती हैं। कर्म तो सब एक से ही हैं, केवल भाव से उनमें भेद हो जाता है। माता, बहिन तथा पुत्री का स्पर्श एक ही भाँति, एक ही अंगों से करते हैं किन्तु भेदभाव से उस उस स्पर्श में भेद हो जाता है। मनुष्य प्राणों को, धनको, मनको, वाणी को तथा समस्त कर्मों

को अपना समझकर भेद बुद्धि से जो व्यापार करता है, वह पुरुषार्थ करने पर भी व्यर्थ हो जाता है, उसका फल तुच्छ होता है। उन्हीं कार्यों को विष्णु प्रीत्यर्थ, भगवत् सेवा बुद्धि से करे तो वे ही कर्म अक्षय हो जाते हैं। सब में ईश्वर को व्याप्त समझकर उनकी प्रसन्नता के लिये ही सब कार्य करने चाहिये।

यद्यपि देवता और दैत्यों ने समान कर्म किया। फल भी समान ही निकला किन्तु देवताओं ने भगवान् का आश्रय ग्रहण किया था, उन नित्य अविनाशी प्रभु की प्रसन्नता के हेतु परिश्रम किया था, अतः उन्हें पीने को अमृत मिला। असुरों ने आसुरी बुद्धि से केवल अनित्य क्षण भंगुर शरीर को पोसने का ही काम किया था छल कपट से छीन झपट कर अमृत पर अधिकार जमा लिया था। इसीलिये उनका पुरुषार्थ सफल नहीं हुआ। आया हुआ अमृत हाथ से निकल गया। स्वेच्छा से उन्होंने दे दिया। सो महाराज! यह मोहिनी रूप भगवान् की एक लीला ही है।

श्रीशौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! भगवान् की तो सभी चेष्टायें लोक कल्याणार्थ ही होती हैं। अच्छा तो फिर क्या हुआ? अमृत छिन जाने पर दैत्य क्रुद्ध तो अवश्य हुए होंगे। क्रुद्ध होकर उन्होंने क्या किया। इस समुद्र मन्थन की कथा को आप पूरी करें।"

सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! दैत्य तो दैत्य ही ठहरे। अमृत छिन जानें पर वे अत्यधिक क्रुद्ध हुए उन दोनों में जैसा घोर देवासुर संग्राम हुआ, उसे मैं आप को सुनाऊँगा। मेरे गुरु-देव भगवान् श्रीशुक ने राजा परीक्षित को आगे की कथा जिस

प्रकार सुनाई उसी को मैं आप सब को सुनाऊँगा। आप सब इसे सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

कामो दैत्यनि हेतु सुघर विधि वधू बनाई।
खलनि फँसावन रूप जाल लै भामिनि आई॥
मेरी मेरी करत परस्पर भिड़ै प्रेम तजि।
मरै नारि के हेतु लड़ै दोऊ ही सजि बजि॥
करे कर्म हरिभाव तैं, जीव मात्रकूँ होहिं सुख।
स्वार्थ हेतु श्रम जे करैं, ताको ध्रुव परिणाम दुख॥

देवता और असुरों का युद्ध

(५२६)

सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः ।
अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान् प्रत्युद्यतायुधाः॥
ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः ।
प्रतिसंयुयुधः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः ॥

(श्री भा० ८ स्क० १० अ० ३,४ श्लो०)

छप्पय

अमृत पान सुर करयो असुर मिलि लरिवे आये ।
अमर सबल सुर भये न पीछे पैर हटाये ॥
दोनों ही रनसूर परस्पर शस्त्र चलावें ।
नाना वाहन चढ़े युद्ध कौशल दिखलावें ॥
गुत्थम गुत्था है गई, मारो काटो मचि गई ।
कटि कटि सिर वसुधा भरी, सरिता शोणितकी भई ॥

जीव जब क्रोध में भर जाता है अपने स्वार्थ पर आघात होते देखता है, अपने को बली शूरवीर साहसी समझता है

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने शत्रुओं की श्री वृद्धि को वे दिति पुत्र असुर सहन नहीं कर सके वे अस्त्र शस्त्र लेकर सुरों से संग्राम करने को उद्यत हो गये तब देवता भी अपने प्रयुधों को लेकर असुरों से युद्ध करने लगे। उन्होंने श्री हरि के चरणों का आश्रय ले रखा था और अमृत पीकर सबल भी हो गये थे।"

और विपक्षी के अशिष्ट व्यवहार से क्षुभित हो जाता है, या अपनी शक्ति का सार्वजनिक प्रदर्शन करना चाहता है, तो वह लड़ने को उद्यत हो जाता है। लड़ना भिड़ना कुछ अच्छी बात तो है नहीं, किन्तु प्राणी लड़े बिना रह नहीं सकता। जैसे बिना प्यार किये कोई नहीं रह सकता वैसे ही बिना लड़ाई के रहना कठिन है। लड़ना जीव का स्वभाव है। जहाँ युद्ध नहीं वहाँ जीवन नहीं। जहाँ युद्ध नहीं वहाँ वृद्धि नहीं। जहाँ समर नहीं वहाँ साहस नहीं, जहाँ विपक्षी नहीं वहाँ सचेष्टता नहीं जीवन एक युद्ध ही है। संसार एक युद्ध स्थली है, इसमें निर्बलों का निर्वाह नहीं। जब बल ही न हो, तो पराधीन रहो या दुख भोगो सबल हो वीर हो तो वसुन्धरा की सामग्रियों का सुख पूर्वक उपभोग करो। जीवन संग्राम में आगे बढ़ो या मरो। यही मूल मन्त्र है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! समुद्र मथने पर अमृत निकला। परिश्रम देवता दानवों ने समान किया, किन्तु हरि विमुख होने के कारण असुर उसके मधुर फल से वञ्चित ही रहे देवताओं ने भर भर भर पेट अमृत पीया। श्रीहरि के अनुकूल होने से उन्हें अपने उद्योग का यथेष्ट फल प्राप्त हो गया। मोहिनी बने भगवान् ने उन्हें तृप्त कर दिया सूर्य चन्द्रमा को अमृत पिलाकर राहु के सिर को काट कर मोहिनी माई यह गई वह गई। अब वहाँ न मोहिनी न मोहिनी की साड़ी। अब तो वहाँ शङ्ख चक्रधारी, पीताम्बर धारी मुरारी बनवारी हँसते हुए दिखाई दिये। असुरों की अब आँखें खुली। अब उनका काम मद उतरा। अब उनको चेत हुआ अरे! यह तो ठगिया विष्णु था। यह तो बहुरूपिया विष्णु ने कपट वेष बना लिया था। हम इस मिथ्या मोहिनी के भ्रममें फँसकर व्यर्थं ठगे गये हमें इस

मायावी हरि ने हराने के लिये ही यह षड्यन्त्र रचा था। अच्छी बात है, कोई चिन्ता नहीं। पी लेने दो इन नपुंसकों को अमृत। देखें ये हमारा क्या कर सकते हैं। अभी हम इन्हें अपने किये का फल चखाते हैं, अभी विष्णु को यम सदन पठाते हैं, अभी देवताओं को अपना वल पौरुष दिखाते हैं। अभी इन्हें मारकर भगाते हैं। ये हैं किस खेत की मूली। इन्हें हम मार डालेंगे, पीस डालेंगे।" इस प्रकार दाँतों को किट किटाते, मारो काटो, पकड़ो, जाने न पावें, इस प्रकार चिल्लाते वे अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओं के ऊपर दौड़े।

देवता पहिले से ही सावधान थे। अमृत पीकर वे सवल भी वन चुके थे। लक्ष्मीजी के उत्पन्न होने से वे श्री सम्पन्न भी हो चुके थे। सबसे महत्व की वात यह थी कि वे प्रभु के पाद पद्मों को प्रेम पूर्वक पकड़े हुए थे। एक अच्युत का ही आश्रय रख कर वे अस्त्र-शस्त्र लेकर असुरों का सामना करने के लिये तत्पर हुए। इस प्रकार वहीं क्षीर सागर के तीर पर देवता दैत्यों में रोमाञ्चकारी परम भयावह घनघोर युद्ध होने लगा। रोष में भरकर एक दूसरे को ललकारने लगे। शत्रु के सम्मुख दहाड़ने लगे। विपक्षी वीरों के उत्साह को भंग करने और स्वपक्ष के उत्साह की वृद्धि के निमित्त वे विविध भाँति के रण वाजे बजाने लगे। वीर योद्धा वाहनों पर चढ़ चढ़कर सजने लगे। उस समय वीरों के गर्जन से, घोड़ों की पाद ध्वनि से, रथों की घर घराहट से शङ्ख, तूर्य, मृदङ्ग, वीणा, वेणु, पणव तथा डमरू आदि वाजों की उत्साह वर्धिनी ध्वनि से आकाश मंडल गूँज उठा। चारों ओर भीषण शब्द होने लगे। रथी रथियों से भिड़ गये, पैदल पदातियों से लड़ गये, हाथी हाथियों से जुड़ गये घोड़े घोड़ों की ओर मुड़ गये। कोई किसी को पटक कर उसकी छाती

पर चढ़ गये। इस प्रकार दोनों दलों में घमासान युद्ध होने लगा।

देवताओं की सेना तो पैदल अश्वारोही-गजारोही, और रथारोही इस प्रकार चार अंगों वाली थी, किन्तु असुरों के वाहन विचित्र थे। कोई ऊँटों पर चढ़े थे तो कोई गधे पर, कोई हाथियों पर तो कोई घोड़ों पर, खच्चरों पर चढ़े थे तो कोई भैंसों पर। कोई रीछों पर कोई व्याघ्रों पर कोई मृगों पर कोई सूअरों पर कोई बिल्लियों पर, कोई चूहों पर, कोई मेढकों पर कोई पतंगों कोई गिरगिटों पर, कोई सांपों पर कोई गिद्धों पर कोई चील्हों पर कोई कौओं पर, कोई कबूतरों पर कोई बतखों पर बगुलों पर कोई बैलों पर कोई बकरों पर कोई भेड़ों पर कोई खरहों पर कोई लोमड़ियों पर कोई बिच्छुओं पर कोई बरों पर, कोई मक्खियों पर कोई चींटियों पर। कोई छिपकलियों पर कोई दीमकों पर। सारांश यह है कि कोई ऐसा जीव नहीं था जो असुरों का वाहन न हो।

इस पर शौनक जी ने पूछा सूतजी—"यह तो आप ऐसी बातें कहते हैं, जो बुद्धि के बाहर की है कभी कभी आवेश में आकर ऐसा वर्णन कर जाते हैं, कि धुनि बाँध देते हैं। भला, हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, गधा, खच्चर, सिंह व्याघ्र आदि वाहन तो कहीं तक उचित भी हैं। चूहे बिल्ली, मच्छर चींटी गिरगिट, उल्लू ऊदविलाव मकरी, दीमक आदि तनिक तनिक से जन्तुओं पर पहाड़ समान असुर कैसे चढ़े होंगे। यह तो बुद्धि के बाहर की बात है।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी! महाराज वे कोई साधारण मच्छर थोड़े ही थे। उन असुरों ने ही ऐसे रूप रख लिये थे। एक वाहन बन गया था दूसरा उसके ऊपर

चढ़ गया था। मायावी दैत्य इच्छानुरूप रूप धारण कर सकते हैं माया से वे जो चाहें बन सकते हैं। इसीलिये उन्होंने इच्छानुसार रूप बना लिया। इन्हें सब आप माया निर्मित समझें। अब आप इस युद्ध को मानवीय युद्ध के साथ तुलना करेंगे, तो गाड़ी आगे चल ही नहीं सकती। यह तो माया का युद्ध था। माया में कोई भी बात असम्भव नहीं। माया में सब कुछ संभव है।

शौनक जी बोले—"अच्छा, सूतजी! ठीक है, हाँ तो फिर क्या हुआ?"

सूतजी शीघ्रता से बोले—"फिर क्या हुआ महाराज! युद्ध हुआ, घमासान युद्ध हुआ, तड़ातड़ी हुई, चटाचटी हुई, खटा-खटी हुई अब के इसने उसके मारा, उसने इसके मारा, उसने इसे पछाड़ा इसने उसे लताड़ा। एक ने दूसरे का सिर काटा, दूसरे ने उसे वीरता पूर्वक वचनों से डांटा। इस प्रकार वे परस्पर एक दूसरे से भिड़ गये। दोनों सेनाओं के वीरों की पताकायें हिल रहीं थीं, सेनायें युद्धार्थ मिल रही थीं। शुभ्र और निर्मल छत्र चमक रहे थे मनोहर मणि मय मुकुट दमक रहे थे, चमरी के शुभ्र चमर हिल रहे थे, रंग बिरंगे दुपट्टे वायु में उड़ रहे थे। उस समय देवता और असुरों की मिली हुई सेना उसी प्रकार गर्जन कर रही थी मानों धनुष कोटि में दो समुद्र मिल कर परस्पर में लड़ रहें हों और उनकी उत्ताल तरंगे पर-स्पर में टक्कर खाकर आकाश की ओर शब्द करती हुई ऊँची उठ रहीं हों।

दैत्यों की सेना के अधिनायक प्रह्लाद के पौत्र विरोचन के पुत्र बलि थे उधर देवताओं के सेनापति शचीपति इन्द्र थे। दैत्यराज बलि मय दानव के बनायें वैहायस नामक विमान पर

चढ़े ऐसे ही शोभित होते थे, मानों आकाश में सूर्य उदय ही हो रहा हो। उनके प्रबल प्रताप से दशों दिशायें प्रकाशित हो रही थीं। अन्य दैत्य यूथपति उनका अनुसरण कर रहे थे। उनके ऊपर उज्वल श्वेत छत्र लगा हुआ था दोनों ओर चमर ढुल रहे थे। वे आकाश में उत्तम ग्रह के समान शारदीय चन्द्र के समान दिखाई देते थे। उनकी रक्षा के निमित्त विमान को घेरे हुए नमुचि, शम्बर, विप्रचित्त, आयोमुख, द्विमूर्धा काल नेमि, प्रहोति, होति, इल्वल, वातरिपु, शकुनि, भूत संताप वज्र-दंष्ट्र विराचन, हयग्रीव, शङ्क शिरा, कपिल, मेघन्दुमि, तारक, शुम्भ निशुम्भ, जम्भ उत्कल, अरिष्ट नेमि, मय, त्रिपुर निवासी दैत्यगण पुलोमा वंश के असुर, कलेप और निवातकवचादि बड़े बड़े मायावी बलवान दैत्य अस्त्र शस्त्र लिये युद्धार्थ उपस्थित थे। ये बड़े बली थे, अनेकों बार इन्होंने देवताओं को परास्त किया था और अनेक बार देवताओं से भी हारे थे। अमृत न मिलने के कारण ये अत्यंत कुपित हो रहे थे। एक दूसरे को उत्साहित कर रहे थे, दाँत पीस रहे थे, ताल ठोंक रहे थे, पैंतरे दिखा रहे थे, अस्त्र शस्त्रों को घुमा रहे थे। देवताओं को पीस डालना चाहते थे। वे अपने अपने शंखों को बजा रहे थे। वाहनों को सजा रहे थे, खड्गों को हिला रहे थे। ये सभी रणरङ्गदुर्मद असुर सब प्रकार से सुसज्जित होकर सुरों की सेना पर टूट पड़े।

इधर अमराधिप इन्द्र असुरों को सुसज्जित और युद्ध के लिये उद्यत देखकर परम क्रुद्ध हुए। वे चलते फिरते पर्वत के समान मदमाते ऐरावत हाथी पर विराजमान थे। गन्धर्व उनके गुन गा रहे थे। त्रैलोक्य की श्री ने उन्हें पुनः वरण कर लिया था। अमृत पी लेने से वे निर्भय निःशंक और साहसयुक्त

हो गये थे। उनके वाहन ऐरावत के गंडों से निरंतर मद चू रहा था मानों पर्वत शिखर से दो झरने गिर रहे हों, उसके ऊपर विराजमान इन्द्र उसी प्रकार शोभित हुए मानों उदयाचल पर दिननाथ भगवान् भुवन भास्कर उदित हो रहे हों। उनके चारों ओर उनचास मरुत वरुण कुवेर, यम, सूर्य चन्द्र तथा अन्य भी मुख्य मुख्य देवता अपने अपने वाहनों पर चढ़े उनका अनुगमन कर रहे थे। अब तो दोनों ओर से भिड़ंत आरंभ हो गई। सबने अपने अपने जोटिया चुन लिये। अपने अपने समान के वीरों के साथ सम्पूर्ण शक्ति लगाकर सुरासुर युद्ध करने लगे। इन्द्र और बलि का भयंकर लोमहर्षण तुमुल युद्ध हुआ दोनों ही एक दूसरे को तीखे तीखे बाणों से वेधने लगे। दोनों ही दिव्य अस्त्रों के प्रयोग से एक दूसरे के अंगों को क्षत विक्षत बनाने लगे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिस प्रकार इन्द्र और बलि में युद्ध हो रहा था, उसी प्रकार अन्य भी अपना अपना प्रतिद्वंदी चुनकर प्राणों का पण लगाकर घनघोर युद्ध करने लगे।"

छप्पय

चढ़ि के दिव्य विमान विरोचन सुत बलि आये।
इति ऐरावत चढ़े शचीपति परम सुहाये॥
निज निज शंख बजाइ सुरासुरपत हरषावत।
दिव्य अस्त्र लै भिड़े वज्र अरु गदा घुमावत॥
युद्ध इन्द्र बलि को लख्यो, सब जोड़ी खोजन लगे।
वीर हृदय उमगन लगे, कायर रन तजि के भगे॥

———

देव और दैत्यों का द्वन्द्व युद्ध

(५३६)

तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः ।
आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधधुर्द्वन्द्वयोधिनः ॥*
(श्री भा० ८ स्क० १० अ० २७ श्लो०)

छप्पय

तारक सङ्ग कुमार मयासुर सँग शिल्पी सुर ।
वरुणहेतितैं लड़ैं त्रिपुररिपु सङ्ग जम्भासुर ॥
त्वाष्ट्रा शम्बर सङ्ग सूर्यतैं लड़ैं विरोचन ।
अपराजित सङ्ग नमुचि वृहस्पति तैं इकलोचन ॥
वृषपर्वा सुर वैद्य सङ्ग, राहु चन्द्रमातैं लड़ैं ।
महिषासुर सुर वदन सङ्ग, सौ बलिसुत रवितैं भिड़ैं ॥

अधिक लोग जब मिलकर उत्साह से किसी काम को करते हैं, तो अन्य लोगों का भी साहस बढ़ता है, वे भी प्रभाव में बहकर अपनी शक्ति से बाहर कार्य कर जाते हैं। जहाँ बहुत से लोग किसी संस्था को दान कर दे रहे हों तो देखा देखी कृपण भी कुछ दे देते हैं। जहाँ बहुत से भावुक भक्त भजन कीर्तन करते हों, वहाँ अन्य लोग भी उनकी देखा देखी उसमें

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वे दैत्य और देवता एक दूसरे को ललकारते हुए, मर्म भेदी शस्त्रों की वर्षा करते हुए, रण में आगे बढ़ कर परस्पर में दो दो मिल कर युद्ध करने लगे ।"

सम्मिलित हो जाते हैं। इसी प्रकार वीर योद्धाओं को लड़ते देखकर तथा युद्ध के बाजे बजते देखकर कायरों की धमनियों में भी वीरता के रक्त का संचार होने लगता है। वे भी उत्साह में भरकर लड़ने लग जाते हैं। अपने पक्ष के लोगों को सैनिक और सेनापतियों को घनघोर युद्ध करते देखकर दोनों पक्ष के सैनिक अपनी विजय के लिये सतत प्रयत्न करते हैं और यथाशक्ति कुछ उठा नहीं रखते।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जब बलि और इन्द्र का परस्पर में घोर युद्ध होने लगा, तब सब के शरीरों में उत्साह भर गया। सभी अपनी जोड़ी खोज खोजकर युद्ध में प्रवृत्त हुए। इधर देवताओं के अधिपति इन्द्र थे तो उधर असुरों के अधिपति महाराज बलि थे। दोनों में युद्ध होने लगा। असुरों के शिल्पी मयासुर ने सुरों के शिल्पी विश्वकर्मा से कहा—"लाओ, भाई! हमारे तुम्हारे भी दो दो हाथ हो जायँ।" विश्वकर्मा भी कुछ कम नहीं थे, लड़ने का उत्साह उनका भी प्रबल हो रहा था। भर पेट अमृत जो पी लिया था। दोनों परस्पर भिड़ गये और होने लगी मार काट उधर से कहीं असुरराज वृषपर्वा जिनकी कन्या को महाराज ययाति ने ग्रहण किया था आ निकले। प्रतीत होता है ये भी चिकित्सा शास्त्र के ज्ञाता रहे होंगे, तभी तो इन्होंने अपनी जोड़ी देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमारों से लगाई। ये दोनों मिलकर लड़ने लगे। असुरों का सेना नायक तारकासुर था और देवताओं के सेनानायक स्वामिकार्तिकेय षडानन थे। दोनों सेनानायक परस्पर में भिड़ गये। उसी समय सबको एक आँख से देखते हुए असुरों के गुरु एकाक्षी शुक्राचार्यजी आ पहुँचे देवताओं के गुरु बृहस्पति जी भी वहाँ घूम रहे थे।

हँसकर शुक्राचार्य ने कहा—"देवगुरो ! आज सब अपनी अपनी जोड़ी लगाकर लड़ रहे हैं हमारे तुम्हारे भी दो दो हाथ हो जायँ। यद्यपि ब्राह्मण का कार्य लड़ना नहीं है, फिर भी हमें अपने शिष्यों का पक्ष लेकर लड़ना ही चाहिए। पुरोहित के लिए धर्मयुद्ध में प्रवृत्त होना अधर्म नहीं है।"

यह सुनकर हँसते हुए देव गुरु बृहस्पति जी बोले—"हमारी तुम्हारी क्या जोड़ी, तुम्हारी एक आँख हमारे दो। लड़ें भी तो किसी दो आँख वाले से लड़ें। एकाक्षी का तो दर्शन भी अशुभ माना जाता है।"

यह सुनकर कुपित होकर शुक्राचार्य बोले—"आँख से क्या लेना। युद्ध तो हाथों से होगा, हाथ हमारे तुम्हारे समान हैं, तुम सुरों के पुरोहित हो, मैं असुरों का होने दो, दोदो हाथ।"

बृहस्पति जी बोले—"मैं किसी से कम थोड़े हूँ, तुम नहीं मानते हो, तो आ जाओ। यह कहकर वे शुक्राचार्य से भिड़ गये। अब तो होने लगी दोनों ओरसे गद पद। आज पुरोहितों को लड़ते देखकर देवता असुर परम विस्मित् हुए। अब तो सब ही अपने अपने बराबर के योद्धा की खोज करने लगे। हेति नामक असुर जल के स्वामी लोकपाल वरुण से भिड़ गया। उसका भाई प्रहेति मित्र नामक सूर्य के साथ। हाथ में दन्ड और पाश लिये हुए लोकपाल यमराज काल नेमि नामक परम पराक्रमी असुर के साथ द्वंद्व युद्ध करने लगे। शम्बरासुर के साथ विश्वकर्मा के पिता त्वष्टा रण में कूद पड़े। सविता नामक सूर्य के साथ विरोचन भिड़ गये। भूति अपराजित से नमुचि लड़ गये। राजा बलि के बाणासुर प्रभृति सौ पुत्र थे, उनके साथ सूर्य लड़ने लगे चन्द्रमा के साथ वैर स्मरण करके सिर कटा

राहु लड़ने लगा। इन्द्र के ससुर पुलोमा के साथ वायुदेव युद्ध करने लगे। भद्रकाली देवी शुम्भ निशुम्भ से लड़ने लगी। महादेव जी जम्भासुर से और अग्निदेव महिषासुर से। इल्वल और वातापी दोनों प्रसिद्ध दैत्य ब्रह्माजी के पुत्रों से लड़ने लगे।

दोनों ओर के वीर गर्ज रहे थे, तर्ज रहे थे, एक एक पर प्रहार कर रहे थे। दुर्मस के साथ कामदेव और वत्कल के साथ मातृ-गण, शनैश्चर के साथ नरकासुर तथा निवात कवचों से मरुद युद्ध करने लगे। कलियों में वसुगण पौलोमों के साथ विश्वदेव गण तथा क्रोधवशों के साथ रुद्रगण संग्राम करने लगे। अधिक कहाँ तक गिनावें जिसने जिसे अपने अनुरूप समझा, वह उससे भिड़ गया लड़ गया, जूझ गया।

दोनों ओर के वीर हुँकार मार रहे थे। एक दूसरे को क्रोध दिला रहे थे, कटु वाक्य कह रहे थे खड्ग, बाण, भाले, बरछी तथा अन्यान्य अस्त्र शस्त्रों को एक दूसरे पर फेंक रहे थे। बड़ी बड़ी तोपें चल रही थीं बन्दूकें छूट रही थीं। आकाश में विमानों पर बैठे कुछ लोग युद्ध कर रहे थे, पृथ्वी पर लड़ रहे थे। कुछ बिना अस्त्र के एक दूसरे को पकड़ कर पटक रहे थे। चारों ओर चक्र, गदा ऋष्टि, पतिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, परश्वध निस्त्रिंश, भाले, मुद्गर तथा भिन्दिपालों परिघों से प्रहार हो रहे थे। उस समय युद्ध क्षेत्र की शोभा दर्शनीय हो रही थी। वह एक विशाल समुद्र के समान प्रतीत हो रही थी। वीरों के कटे सिर ही मछलियों जैसे तैर रहे थे। चारों ओर रक्त का समुद्र सा बन गया था, उसमें कटे हुए हाथी ग्राहों के समान दीखते थे, वीरों की बाहुएँ ऐसी बह रही थीं मानों जल में सर्प घूम रहे हों, किरीटों के रत्न रक्त में से चमक जाते थे।

चारों ओर से वीरों के शब्द ऐसे प्रतीत होते थे मानों समुद्र गर्जन कर रहा है। धूलि का वहाँ नाम भी नहीं था। रक्त ने समस्त धूलि को शोष लिया। चारों ओर वस्त्र, आभूषण, ध्वजा, पताका, वाहन वीरों के अंग प्रत्यंग कटे हुए पड़े थे। बहुत से कटे सिर तड़प रहे थे, लुढ़क रहे थे। बहुत से कबन्ध हाथ में खड्ग लिये, बिना सिर के ही युद्ध कर रहे थे और शत्रु सेना का संहार कर रहे थे। कहीं कोई किसी को कुवाच्य कह कर क्रोधित कर रहे थे,तो कहीं बहुत से वीर एकसाथ ही किसी के हाथों से कट-कट कर मर रहे थे। कहीं कोई क्षतविक्षत होने पर भी रणक्षेत्र में पड़े जी रहे थे, तो कहीं कोई किसी के रक्त को पी रहे थे सभी एक दूसरे को पराजित करना चाहते थे। सभी विजय श्री का वरण करने को समुत्सुक थे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वह देवासुर संग्राम की बड़ी ही सज-धज के साथ आरम्भ हुआ। महाराज! वीरों का उत्साह सहस्रों गुणा बढ़ रहा था! दोनों ही अपने को अमरजित मानते थे, इसीलिये युद्ध ने अत्यन्त ही भीषण रूप धारण कर लिया?"

छप्पय

नरकासुर शनि सङ्ग काम के सँग दुरमरषन।
क्रोध वशनितैं करै युद्ध निर्भय ह्वै शिव गन॥
अष्टवसुनितैं कालकेय मुनि सँग वातापी।
देवी काली संग लड़ैं, खल शुम्भ प्रतापी॥
एक दूसरेतैं लड़ैं, छोड़ि प्रानके मोह कूँ।
छोड़ि सकैं नहिं देवहू, सहज रिपुनिके द्रोहकूँ॥

इन्द्र के साथ बलि का माया युद्ध

(५३७)

एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीषणैः ।
सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः ॥
(श्रीभा० ८ स्क० १० अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

बलि सुरपतितैं लड़ैं करैं बाननि की वृष्टी ।
छूटत अस्त्र अमोघ प्रलय होगी जनु सृष्टी ॥
शतक्रतु मारन हेतु विविध विधि अस्त्र चलाये ।
बाल न बाँको भयो विपतितैं विष्णु बचाये ॥
दैत्यराज ढिँग युक्ति जब, कोई नहिँ बाकी बची ।
तब मायावी असुर ने, अति अद्भुत माया रची ॥

जीव जब धर्म को निर्बल समझकर माया का आश्रय लेता है, तब उसकी पराजय होती है। जो स्वयं मायावी है उसे प्रबल मायावी जीत सकता है किन्तु जिसे एक मात्र भगवान् का ही आश्रय है, उसका माया कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती, क्योंकि श्री हरि तो सभी मायाओं के पति हैं। भगवान् की

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिनकी गति अत्यन्त भीषण थी और जो दिखाई नहीं देती थी ऐसे महामायावी दैत्यों के अनेकों मायाओं के उत्पन्न करने पर देवता अत्यन्त ही विषाद को प्राप्त हुए।"

शरण में जाने से सभी मायायें व्यर्थ हो सकती हैं। माया का प्रभाव क्षण भर को सफल सा दिखाई देता है, अन्त में वह विफल हो ही जाती है, क्योंकि माया की शक्ति स्थायी नहीं। स्थायित्व तो भगवान् में ही है। भगवान् की भक्ति ही स्थाई है। भक्त का बल ही स्थिर है। आसुरी माया तो नश्वर है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब सबने अपने अपने प्रतिद्वन्दी ही चुन लिये तब उनमें घनघोर रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा। वह युद्ध क्या था। मानों असमय में प्रबल काल उपस्थित हो गया हो।

राजा बलि ने दस बाण मार कर देवेन्द्र को घायल किया तीन बाण उनके वाहन ऐरावत की पीठ पर मारे। चार बाणों से ऐरावत के चारों पैरों के रक्षकों को मारा और एक से हस्तिप को घायल किया। इस प्रकार दस और तीन तेरह-तेरह और चार सत्रह और एक अठारह बाण मारे।"

यह सुनकर हँसते हुए शौनक जी बोले—"सूतजी, उन बाणों को बैठा-बैठा वहाँ युद्ध में गिन कौन रहा था?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज गिनने की क्या आवश्यकता है, मेरे गुरु के गुरु श्री भगवान् व्यासदेव ने समाधि द्वारा सब को प्रत्यक्ष करके ही लिखा है। दिव्य दृष्टि से भूत भविष्य तथा वर्तमान की सभी बातें जानी जा सकती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा तो फिर क्या हुआ? उन बाणों से क्या देवेन्द्र व्यथित हुए?"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज! देवेन्द्र ने हँसते २ लीला से ही वे बाण काट दिये। मेरे गुरुदेव राजा परीक्षित् को इन्द्र और बलि के युद्ध का विशद् वर्णन करते हुए बता रहे हैं, कि बलि

के वाण जब व्यर्थ हो गये तो उसने इन्द्र पर एक बलवती शक्ति चलाई। किन्तु शतक्रतु ने तुरन्त ही छोड़ने से पूर्व ही उसे काट दिया।

जब बलि ने देखा अस्त्र शस्त्रों से मैं इन्द्र को नहीं जीत सकता। तब वह प्रत्यक्ष युद्ध छोड़कर वहीं अन्तर्धान हो गया। अन्तर्धान होकर उसने मय की बनाई आसुरी माया का आश्रय ग्रहण किया। माया से अनेक वस्तुओं का निर्माण करके वह देवताओं की सेना को व्यथित करने लगा। आकाश से गड़गड़ान तड़तड़ान होने लगी बड़े बड़े पत्थर देव सेना के ऊपर पड़ने लगे। पर्वतों के शिखर गिर-गिर कर सुर सैनिकों को कुचलने लगे दावाग्नि से वहाँ के वृक्ष आदि जलने लगे, पैने-पैने पत्थर सबके पेटों पर पड़ने लगे बड़े-बड़े सर्प बिच्छू ऊपर से गिर कर सैनिकों को काटने और ग्रसने लगे बली-बली व्याघ्र मुँह फाड़े गिर कर सेना के हाथियों को डराने लगे। बहुत सी भयंकर आकृति वाली राक्षसियाँ बाल बिखेरे, हाथ में त्रिशूल लिये नंग-धड़ंगी ऊपर से उतर कर रण भूमि में मारो काटो करती हुई विचरण करने लगीं। वह क्रोध से खींज रहीं, दातों को पीस रही थीं, देवताओं को डरा रही थी, कर्कश वाणी में चिल्ला रही थीं। इतने में ही आकाश से अग्नि की वर्षा होने लगी, बिजली चमकने लगी वीभत्स सी दामिनी दमकने लगी। देव सेना में प्रचण्ड अग्नि उत्पन्न होकर सैनिकों और सामिग्रियों को स्वाहा करने लगी वीभत्स वायु बहने लगी। कभी अपार सागर दिखाई देता जिसमें उठती हुई उत्ताल तरंगें आकाश को स्पर्श सी करने लगतीं। चारों ओर हाहाकार मच गया। सुर सैनिकों के छक्के छूट गये। माया के प्रभाव से सभी दुखी होकर त्राहि-त्राहि करने लगे।

अब तो देवेन्द्र भी चिन्तित हुए। उन्हें माया के नाश का कोई उपाय ही न सूझता था। जब विपत्ति पड़ी तब उन्हें फिर विपत्ति भंजन श्रीहरि का स्मरण हुआ वे दीन होकर विश्व भावन भगवान् का ध्यान करने लगे। उन्होंने आर्त स्वर में कहा—"हे प्रभो! हम पर जब जब भीर पड़ी तभी आपने आकर हमारी रक्षा की। हमें तो असुरों ने स्वर्ग से भ्रष्ट ही कर दिया था आपने हमें समुद्र मंथन की शुभ सम्मति दी, आपने ही हमें सिखा पढ़ा कर युक्ति बताकर असुरों के समीप भेजा। आपने उनकी बुद्धि ऐसी बना दी कि उन्होंने हमारी बात मान ली। फिर जब मन्दराचल के लाने से हम सब थक गये क्लांत हो गये तो आपही गरुड़जी की पीठ पर मन्दर को उठाकर क्षीर सागर के समीप ले आये। क्षतविक्षत सुरों को स्वस्थ बनाया हमें सर्प मुख की ज्वाला से बचाया युक्ति से पूछ की ओर लगाया। डूबते हुए मंदर को कच्छपावतार धारण करके बचाया। मंदर के ऊपर बैठकर ऊपर से उसे डाँटे रहे वासुकि के वदन में निद्रा बनकर प्रवेश कर गये। देवता और असुरों में शक्ति बनकर बल प्रदान करते रहे। इतने पर भी जब अमृत न निकला तो अपनी चारों बाहुओं से स्वयं समुद्र को मथने लगे। बड़ी युक्ति से निकले हुए रत्नों का दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करते हुए बँटवारा करते रहे। अन्त में अमृत निकलने पर जब वे दुष्ट दैत्य आपके अंशावतार धन्वन्तरि के हाथ से अमृत कलश को लेकर भग गये, तब आपने मोहिनी अवतार धारण करके हाथ से अमृत को छुड़ाया। हम पिपासितों को अमृत पिलाया। पंडितमानी खल असुरों को मोहकर मूर्ख बनाया। अब इस युद्ध में ये मायावी असुर हमें मोह में डाले हुए हैं। हे मायापति! हमें इस आसुरी माया से बचाइये।

अपने आश्रित भक्तों को शीघ्र आकर बचाइये। हे प्रभो! जैसे आपने सर्वत्र रक्षा की वैसे ही इस अवसर पर भी हमारी रक्षा करें।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं ने इस प्रकार दीन होकर आर्त स्वर में उन आर्त हारी अच्युत की स्तुति की तो शरणागत वत्सल भगवान् उसी समय प्रकट हुए। उस समय की भगवान् की शोभा अद्भुत थी। इस समय वे अष्ट भुजाओं को धारण किये हुए थे। नव पद्मदलायतेक्षण भगवान् वासुदेव अपने सुन्दर सुकोमल विश्ववन्दित चरण कमल को गरुण के कन्धे पर रखे हुए थे। उनकी शोभा अकथनीय थी। कानों में बहुमूल्य रत्नों से शोभित कनक कुंडल हिल रहे थे। वक्षःस्थल में लक्ष्मी जी कौस्तुभ मणि तथा विविध मणि मय मालायें अपनी शोभा का प्रदर्शन कर रही थी। भगवान् के तुरन्त प्रादुर्भाव होने से दुखित देवताओं के हृदय हरे हो गये। उन्हें बड़ा सहारा मिला। वे अब अपने को सुरक्षित समझने लगे।

छप्पय

माया निर्मित अंधकार सब जगमँह छायो।
विद्युत चमकै तीक्ष्ण बिना ऋतु घन घिरि आयो॥
नभतैं बरषैं सर्प ब्याघ्र सिंहादिक तरजैं।
राक्षस प्रेत पिशाच भूतगन घूमैं गरजैं॥
चंडी मुन्डी कालिका, लै त्रिशूल घूमत फिरत।
मारौ काटौ सुरनि कूँ, डाइन करकस रव करत॥

———

आसुरी माया का नाश और असुरों का विनाश

(५३८)

तस्मिन् प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा,
माया विनेशुर्महिना महीयसः ।
स्वप्नो यथाःहि प्रतिबोध आगते,
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥*

(श्री भा० ८ स्क० १० अ० ५५ श्लो०)

छप्पय

माया निरमित जन्तु जगतमहँ चहुँदिशि छाये ।
निरखी माया प्रवल आसुरी सुर घबराये ॥
अन्य शरन नहिं लखी, शरन श्री हरि की लीन्हीं ।
ह्वै के परम अधीर विनय देवनि मिलि कीन्हीं ॥
प्रभु प्रकटे माया नसी, करी कृपा करुनाथतन ।
मनमोहनकी माधुरी, निरखि भये सुरगन मगन ॥

जिसने शरीर धारण किया है, उसे सुख भी होगा दुख भी। शरीर धारियों को न कभी सुख ही हो सकता है न दुख ही दुख। यह देह प्रारब्ध से प्राप्त होता है। सुख दुख प्रारब्ध के अधीन हैं। जब जैसा समय आता है तब तैसी

---

*श्रीशुकदेवजी, कहते हैं—राजन् ! श्रीहरि के सुर सेना में प्रवेश करते ही असुरों की कूट कर्म से उत्पन्न माया उन महान से भी महान् प्रभु के तेज से उसी प्रकार नष्ट हो गई जैसे जिस प्रकार जाग जाने पर स्वप्न का नाश हो जाता है। इसीलिये तो कहा है "भगवान् की स्मृति सम्पूर्ण विपत्तियों से मुक्त कर देने वाली है।"

घटना घटित हो जाती है। ज्ञानी लोग सुख दुख दोनों को दीनदयाल की देन समझकर दुख में न अधिक दुखी ही होते हैं और न सुख में फूल कर कुप्पा ही हो जाते हैं। सुख आता है चला जाता है दुख आता है, एक दिन उसका भी अंत हो जाता है। ऐश्वर्य का सदा उपभोग किसने किया है। देवताओं को भी समय समय पर स्वर्ग छोड़ना पड़ता है इन्द्र को भी अवसर आने पर इन्द्रासन से च्युत होना पड़ता है, असुर भी कभी स्वर्ग के स्वामी होते हैं! वे भी कभी त्रिलोकी पर शासन करने लगते हैं। राजा हो जाना, शासन सूत्र हाथ में ले लेना युद्ध में विजय प्राप्त कर लेना, विषय भोग की प्रचुर सामिग्रियों को एकत्रित कर लेना, इसी का नाम उन्नति नहीं है। इसे तो असुर भी कर लेते हैं। यही नहीं, सुरों की अपेक्षा इन्द्रिय सुखोपभोग असुर ही अधिक करते हैं। उन्हें सदा इन शरीर को बनाये रखने की चिन्ता रहती है। परपीड़न करके अपनी इन्द्रियों को सुखी करना प्राणों में ही रमण करना यही आसुरी भाव है। उन्नति तो यही है, कि सुख दुःख में सर्वत्र श्रीहरि को स्मरण करते रहना। सुख आने पर उसे भी सर्वेश्वर को समर्पित कर देना और दुख आने पर भी उन्हीं का चिन्तन करते रहना। सारांश यह, कि सर्वत्र सर्वकाल में सर्वभाव से श्रीहरि को ही हृदय में धारण किये रहना यही सुख है यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। यही जीवन की सार्थकता है।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जब इन्द्रादि देवाताओं ने बलि की आसुरी माया से घबरा कर श्रीहरि का स्मरण किया, तब भक्तवत्सल भगवान् तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये। भगवान् के प्रकट होते ही आसुरी माया उसी प्रकार नष्ट हो गई, जिस प्रकार सूर्य के उदय हो

जाने पर अंधकार नष्ट हो जाता है, रवि के उदय होने पर नीहार नष्ट ही जाता है, ज्ञान के उदय हो जाने पर अज्ञान् नष्ट हो जाता है, तथा भक्ति के उदय होने पर दुःख शोक नष्ट हो जाता है। भगवान् के दर्शनों से देवताओं को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने दुःखों को दूर हुआ ही समझा।

अब जब दैत्यों ने देखा कि देवताओं का पक्ष लेने तो भगवान् विष्णु आ गये हैं, तब वे उन पर भी प्रहार करने लगे। कालनेमि नामक बड़ा बली दैत्य, जिसने तपस्या के द्वारा बड़े-बड़े वरदान प्राप्त कर लिये थे, जो अपने को सदा विजयी ही मानता था, उसने आगे बढ़कर भगवान् का सामना किया। वह असुर सिंह पर चढ़ा हुआ था। गर्जन-तर्जन करता हुआ सिंह को दौड़ता हुआ वह हाथ में त्रिशूल लेकर गरुणवाहन भगवान् के ऊपर दौड़ा। भगवान् के तो युद्ध के लिये हाथ खुजाते ही रहते हैं। उन्हें तो अपने अस्त्रों से दैत्यों को मार कर उनके तप का फल देना ही है। जो भाग्यशाली दैत्य वैर भाव से भगवान् को भजते हैं, उनकी शत्रुता के साथ भक्ति करते हैं, उनकी भगवान् के शस्त्र से मरने पर सद्गति होती है। यह कालनेमि भी भगवान् की वैरं भक्ति करता था, अतः इसने बड़े बल से भगवान् के वाहन गरुड़जी के मस्तक पर घुमाकर त्रिशूल मारा। उस त्रिशूल को आता देख परम चतुर रण प्रवीण भगवान् विष्णु ने फूल की भाँति लीला से ही बीच में उस त्रिशूल को हँसते हुए पकड़ लिया और बोले—"वीरवर! अब बोले क्या करोगे?"

अपने अस्त्र को व्यर्थ हुआ देखकर वह असुर उसी प्रकार अंड-बंड बकने लगा, जैसे त्रिदोष में आदमी बकता है। वह हाथ पैर पटकने लगा। भगवान् पर प्रहार करने लगा! भगवान् ने उसके सिर पर वही त्रिशूल कस कर मारा। जिससे

वह दैत्य अपने वाहन सिंह के साथ मरकर पृथ्वी में गिर पड़ा। राजन्! यही कालनेमि भगवान् से विरोध करके अंत में कंस हुआ, जो अंत में भगवान् के हाथ से मरकर मुक्त हुआ।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! कालनेमि असुर विशुद्ध क्षत्रिय महाराज उग्रसेन के यहाँ कैसे हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! यह बहुत बड़ी कथा है, इसे मैं फिर कभी सुनाऊँगा। अब तो आप देवासुर संग्राम की बातें सुनें।"

शौनकजी बोले—"अच्छी, बात है, हाँ, तो फिर क्या हुआ।"

सूतजी बोले—"मेरे गुरुदेव श्रीशुक राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन्! जब कालनेमि दैत्य मर गया तो उसका बदला लेने के लिये अत्यन्त प्राचीन असुर माली, सुमाली और माल्यवान् ये तीनों विश्व विजयी भगवान् से लड़ने आये। भगवान् ने पहिले तो हँसी-हँसी में लीला के साथ युद्ध किया, इससे असुरों का उत्साह बढ़ा। अन्त में अपने तीक्ष्ण चक्र से उन्होंने माली और सुमाली नामक दैत्यों का सिर उसी प्रकार काट लिया जैसे किसान फूली फली पकी खेती को खेत से काट लेता है। माली सुमाली के मर जाने पर माल्य-वान् भगवान् से लड़ने आया। वह भी उसी रास्ते का पथिक बना जिस पर कुछ क्षण पूर्व उसके भाई गये थे। इन चारों दैत्यों के मरने से असुर सेना में हाहाकर मच गया। देवताओं का उत्साह बढ़ गया। जो देव आसुरी माया से मोहित होकर अचेत हो गये थे वे पुनः प्रभु प्रताप से सचेत हो गये। वे पुनः असुर सेना का संहार करने लगे। रण में अपने प्रतिपक्षियों को

पछाड़ने लगे। सिंहनाद करते हुए उत्साह में भर कर दहाड़ने लगे।

अब शचीपति इन्द्र भी परम उत्साहित हुए। उनके रक्त में नवजीवन का पुनः संचार हुआ, वे अपना दिव्य वज्र लेकर बलि को मारने के लिये दौड़े। महाराज बलि तो उनके सम्मुख ही खड़े थे, वे बड़े शूरवीर मनस्वी तेजस्वी और परमज्ञानी थे। इन्द्र को प्रहार करते देखकर भी वे अपने स्थान से न हिले न डुले। ज्यों के त्यों सुमेरु के समान अचल भाव से खड़े रहे। बलि को इस प्रकार निश्चल निर्भय खड़े देखकर देवेन्द्र उनका उत्साह भंग करने के लिये अत्यन्त तिरस्कार के साथ उसकी भर्त्सना करते हुए बोले—"अरे, मूढ़ ! तू माया करके मुझ मायेश को मोहना चाहता है ? जैसे मायावी नट मूर्खों की दृष्टि बाँधकर नाना प्रकार के विचित्र खेल दिखाकर उन्हें ठगना चाहता है, उसी प्रकार तू आसुरी माया से हमारी वञ्चना करना चाहता है। हम तेरे चक्कर में नहीं आ सकते। तू चाहता होगा मैं माया के द्वारा ही तीनों लोकों को जीत लूँगा। स्वर्ग का स्वामी बना रहूँगा। मोक्ष प्राप्त कर लूँगा ! वह तेरा भ्रम है, अज्ञान है, मूर्खता है, दुर्लभ मनोरथ है। मैं तेरे भ्रम का निवारण कर दूँगा, तेरी आँखें खोल दूँगा, तुझे तेरे किये का फल चखा दूँगा, तेरे मनोरथ को असंभव बना दूँगा। आज मैं तुझे युद्ध में जीता न जाने दूँगा। तेरी समस्त मायाओं को व्यर्थ बनाकर, तुझे तेरे बन्धुबान्धवों और सैनिकों के साथ यमपुर के मन्दिर का द्वार दिखा दूँगा तेरे सिर को धड़ से पृथक कर दूँगा। अपने सौ पर्व के वज्र से धड़ से तेरे सिर को काटकर कंदुक की भाँति ऊपर उछाल दूँगा।"

यह सुनकर परम ज्ञानी महाराज बलि बोले—"इन्द्र ! तू सहस्राक्ष होकर भी अंधा ही रहा ? अरे, भैया ! कौन किसे मार

सकता है, कौन किसे पराजित कर सकता है। यह सब तो काल की प्रेरणा से होता है। जब काल हमारे अनुकूल होता है, तो हम तुम्हें स्वर्ग से खदेड़ देते हैं, परास्त कर देते हैं, जब वह काल हमारे प्रतिकूल हो जाता है, तो हम परास्त हो जाते हैं। दो पक्ष आपस में लड़ते हैं। कभी किसी पक्ष को विजय श्री वरण करती है कभी किसी को। कभी किसी पक्ष की कीर्ति हो जाती है, कभी किसी का। कभी एक पक्ष की विजय हो जाती है कभी दूसरे पक्ष की। जो तेरे जैसे मूर्ख हैं, वे समझते हैं, यह विजय मुझे अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हुई। मैंने अपने बल से परपक्ष को पराजित किया। तुम जैसे मूर्ख पागल व्यर्थ में ही अपनी प्रशंसा रूप प्रलाप को करते रहते हैं। इसमें मुझे न हर्ष है न शोक। मैं तो सब कालकृत मानता हूँ। आ जा मेरे तेरे दो दो हाथ हो जायें, जिसका अनुकूल काल होगा, उसे ही विजयश्री वरण करेगी। जय उसके ही कंठ में विजय माला पहिनावेगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार इन्द्र और बलि परस्पर में एक दूसरे का तिरस्कार करते हुए घन घोर युद्ध करने लगे।"

छप्पय

कालनेमि लखि विष्णु सिंह चढ़ि लड़िवे आयो।
मार्यो तकि तिरशूल असुर यमसदन पठायो॥
पुनि माली अति बलीं सुमाली माल्यवान् जब।
अस्त्र शस्त्र लै आइ करैं घनघोर युद्ध सब॥
हरि संहारे देवरिपु, सद्गति शत्रुनिकूँ दई।
अति प्रसन्नता सुरनकूँ, असुरनिके क्षयतैं भई॥

देवेन्द्र द्वारा नमुचि वध

[५३६]

जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः ।
नमुचिश्च बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः ॥ॐ

(श्री भा० ८ स्क० ११ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

वज्रपाणि देवेन्द्र लड़न पुनि बलि सँग आये ।
अरिकूँ सम्मुख लख्यो बहुत कटु वचन सुनाये ॥
मारयो तकिकें वज्र गिरयो बलि मुर्छित ह्वैकें ।
लखि बलि मूर्छित जम्भ लड़न सर आयो लैकें ॥
जम्भ मारि सुरपति दयो, नमुचि सुनत आयो तुरत ।
अस्त्र शस्त्र लै युद्ध में, रण दुर्मद इत उत फिरत ॥

भगवान् जब जिसे जितनी शक्ति प्रदान कर देते हैं, तब वह उतना ही पौरुष कर सकता है असुरों में भी उन्हीं की

ॐ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब नारद जी के मुख से अपने भाई जम्भ का मारा जाना सुना, तो अत्यन्त शीघ्रता से बल पाक और नमुचि वहाँ आगये ।"

शक्ति है और सुरों में भी। जब उन्हें असुरों की वृद्धि करनी होती है तो असुर बलवान् बन जाते हैं वे देवताओं को हरा देते हैं और जब उन्हें सुरों की वृद्धि करनी होती हैं, तो सुरों में शक्ति प्रदान कर देते हैं। जब धर्म को बलवान् करना होता है तो सब धार्मिक हो जाते हैं, सत्युग, त्रेता आदि युग प्रवृत्त होने लगते हैं जब अधर्म की वृद्धि करनी होती है तो धर्म की शनैः शनैः ग्लानि होने लगती है, धर्म निर्बल हो जाता है। अधर्म प्रबल हो जाता है कलियुग आदि युग प्रवृत्त होने लगते हैं। भगवान् तो इन सब प्रपञ्चों से परे हैं। वे केवल क्रीड़ा के निमित्त, विलास के निमित्त यह सब करते हैं। उन्हें कोई इच्छा नहीं, स्पृहा नहीं केवल लोकवत् लीला कर रहे हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! इन्द्र और बलि का घमासान युद्ध होने लगा। अब बलि ने धनुष बाण चढ़ाया और उसे कानों तक खींचकर इन्द्र के ऊपर छोड़ा ऐसे एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा बाण छोड़ते गये। इन्द्र के शरीर में बाण उसी तरह बिंध गये जैसे स्याही के शरीर में कांटे होते हैं। शत्रु के प्रहारों से क्रुद्ध हुए देवेन्द्र अंकुश से आहत करीन्द्र के समान तिलमिला उठे। अब उन्होंने बलि पर कभी भी व्यर्थ न होने वाला दधीचि मुनि की तेजोमय अस्थियों से निर्मित—अपना वज्र छोड़ा। फिर क्या था वज्र के लगते ही पंख कटे पर्वत के समान दैत्यराज बलि मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

बलि के गिरते ही दैत्य सेना में सर्वत्र हाहाकार मच गया बलि के अत्यंत प्रिय सखा जम्भासुर ने जब यह समाचार सुना तब तो वह सन्न हो गया। तुरन्त समर सामग्रियों से

सन्नद्ध होकर सुरेन्द्र से समर करने समर भूमि की ओर चला। गदा ताने हुए वेग से अपनी ही ओर आते हुए जम्भासुर को देखकर देवेन्द्र सम्हल गये। वह दुष्ट दैत्य एक बड़े भारी डील डौल सिंह के ऊपर चढ़ा हुआ था। ऐरावत को खाने के लिये मुँह फाड़े सिंह को, और गदा ताने दुर्मद दैत्य को देखकर देवेन्द्र तनिक भी विचलित नहीं हुए। जम्भासुर ने आते ही एक गदा ऐरावत के मस्तक पर मारी। उसी आघात से ऐरावत तिलमिला उठा। मुख से रक्त उगलने लगा। आगे चलने में वह असमर्थ सा प्रतीत होता था। उसी समय इन्द्र के चतुर सारथी मातलि सहस्र अश्वों वाले सुवर्ण मंडित दिव्य रथ को लेकर तुरन्त वहाँ उपस्थित हुए। किंकिणियों की खनखनाहट और रथ की घरघराहट को सुनकर शचीपति को परम संतोष हुआ। समीप आते ही ऐरावत को छोड़कर तुरन्त वे रथ में बैठ गये। यह देखकर जम्भासुर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह मातलि की प्रशंसा करते हुए कहने लगा—"मातलि तुम यथार्थ में स्वामि भक्त सारथि हो। तुम समय को समझने वाले, अवसर से न चूकने वाले प्रत्युत्पन्न मति रथवाहक हो। सारथि को ऐसा ही होना चाहिये। उसे सदा स्वामि के हित में तत्पर रहना चाहिये। धन्यवाद, यमपुर की यात्रा करो; अन्त समय में स्वामी का ऋण चुका कर उऋण हो जाओ।" यह कहकर—उसने युद्ध क्षेत्र में मुस्कराते हुए एक जाज्वल्यमान त्रिशूल उस पर छोड़ा। त्रिशूल के लगते ही क्षण भर को मातलि अचेत सा हो गया, किन्तु उसने घोड़े की न तो रश्मियों को छोड़ा न हाथ से तोत्र ही गिराया क्षण भर में धैर्य धारण करके बड़े कष्ट से उसने उस त्रिशूल की असह्य पीड़ा को सहन किया।

अपने सारथी को दुखी और पीड़ित देखकर इन्द्र के क्रोध का

ठिकाना नहीं रहा। अब उन्होंने इस दुष्ट पर अन्य साधारण बाण न छोड़कर अमोघ वज्र का ही प्रहार किया। आगे बढ़ कर रथ में से देवेन्द्र ने उसके सिर को लक्ष करके ज्यों ही उस पर वज्र छोड़ा त्यों ही उसका सिर धड़ से कटकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। असुर के मरते ही सिद्ध गन्धर्व साधु साधु कहने लगे। इन्द्र के ऊपर पुष्पों की वर्षा होने लगी।

क्षण भर में यह समाचार सम्पूर्ण दैत्य सेना में फैल गया। देवर्षि नारदजी भी आकाश में खड़े खड़े युद्ध का आनन्द लूट रहे थे। जब जम्भासुर मर गया, तब अन्य किसी असुर का देवेन्द्र से लड़ने का साहस ही नहीं हुआ। नारदजी ने सोचा अरे, यह तो खेल ही समाप्त होना चाहता है। अतः वे दौड़े दौड़े परम पराक्रमी, तपस्वी, तेजस्वी, और देवताओं के दाँत खट्टे करने वाले नमुचि के पास गये। नमुचि ने घोर तपस्या करके ब्रह्माजी से यह वर प्राप्त कर लिया था, कि मैं किस सूखी वस्तु से न मरूँ न गीली से।" इससे वह अपने को अजरामर समझता था। देवता उसके नाम से डरते थे। तीनों लोकों में उसका बल विख्यात था। देवर्षि नारद ने उससे कहा—"अजी असुर शिरोमणि नमुचि महाराज! आपको अभी ज्ञात नहीं कि इन्द्र ने आपके परम पराक्रमी भाई जम्भ को मार डाला।"

नारदजी के मुख से अपने बन्धु जम्भ की मृत्यु सुनकर नमुचि परम क्रुद्ध हुआ और वह बल तथा पाक आदि को साथ लिए हुए अत्यन्त शीघ्र सुरेन्द्र से लड़ने के लिये समर भूमि में आ गया। आकर उसने कहा—"अरे, दुर्बुद्धि देवेन्द्र! तुझे बड़ा अहङ्कार हो गया है, आज मैं तेरे अहङ्कार को चकना चूर कर दूँगा, तुझे तेरे किये कुकृत्य का फल चखा दूँगा। अब तू सम्हल जा मरने के लिये कटिबद्ध हो जा।" यह कह कर वह अनगिनती

बाणों की इन्द्र पर अपने भाइयों के सहित उसी प्रकार वर्षा करने लगा, जैसे मेघ पर्वत शिखर पर घनघोर वर्षा करते हैं। सर्व प्रथम वल नामक दैत्य ने एक साथ सहस्र बाण छोड़कर इन्द्र के रथ में लगे हुए सहस्र घोड़ों को बींध दिया। पाक नामक दैत्य ने सौ बाण मारकर इन्द्र के सारथी को घायल किया तथा रथ को भी बाणों से ढक लिया। इस प्रकार चारों ओर से रथ के बिंध जाने पर स्वयं नमुचि सुवर्ण पङ्खयुक्त पंद्रह बाण मार कर वज्र पाणि देवेन्द्र को आहत किया इस प्रकार इन्द्र के सारथी तथा रथ को साङ्गोपाङ्ग वेधकर और इन्द्र को आहत करके वह दुष्ट दैत्य जल भरे मेघों के समान भयंकर नाद करके गर्जने लगा। इन्द्र बाणों से चारों ओर से उसी प्रकार ढक गये जैसे वर्षा काल में सूर्य मेघों से ढके दिखाई नहीं देते।

इन्द्र को इस प्रकार बाणों से ढककर दैत्यों ने देव सेना पर प्रहार किया दैत्यों के प्रहार को न सह सकने के कारण देवताओं की पराजित सेना रणस्थली को छोड़कर भाग खड़ी हुई देवताओं ने देखा वरुण हैं, कुबेर हैं, सूर्य हैं, चन्द्रमा हैं तथा अन्यान्य भी लोकपाल, वसु, आदित्य, मरुद्गण आदि हैं, किन्तु सबके अधिनायक देवेन्द्र दिखाई नहीं देते। तब तो देवताओं के छक्के छूट गये। वे नायक हीन हुए देवता उसी प्रकार दुखित हुए जैसे यूथपति के बिना यूथ के अन्य लोग दुखी होते हैं। समुद्र में नौका टूट जाने पर जैसे व्यापारी के अनुचर हाय हाय करके शोकाकुल होते हैं, वैसे ही इन्द्र के बिना देवता दुखी हुए। कुछ ही चण में मूर्छा भंग होने पर देवेन्द्र अपनी शक्ति से उस शर पंजर को फाड़ कर उसी प्रकार निकल आये जैसे कुहरे को फाड़ कर सूर्य निकल आता है, अथवा पिंजड़े के खुल जाने पर सिंह निकल जाता है। उनका रथ ज्यों का त्यों

था। सारथी, अश्व, ध्वजा रक्षक सभी सुरक्षित थे। उन्होंने देखा-दैत्यों के प्रहार से क्षतविक्षत हुई देव सेना इधर उधर भाग रही है, असुर भगते हुए सैनिक को खदेड़ रहे हैं; तब तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। वे वज्र लेकर शत्रु सेना पर टूट पड़े और उसका संहार करने लगे। सम्मुख उन्हें बल, पाक और नमुचि युद्ध करते हुए दिखाई दिये। एक वज्र मार कर तो उन्होंने बल और पाक को धराशायी किया। दोनों के प्राण पखेरू शरीर रूपी पिंजड़ों को परित्याग करके उड़ गये। उन दोनों को मरते देख कुछ लोग और भी झपटे, उनकी भी ढेरी बना दी, उन्हें भी पट्ट पृथिवी पर लिटा दिया, कुछ भागे कुछ अस्त्र त्याग कर वहीं गये। महावीर नमुचि ने भागते हुओं को धैर्य बँधाया, और धर्म बताया और स्वयं गदा लेकर लड़ने के लिये इन्द्र के सम्मुख आया।

बन्धु बल और पाक के मारे जाने से नमुचि अत्यन्त ही क्षुभित था। वह असहनशीलता, शोक तथा रोष में भर कर बड़े वेग से इन्द्र को मारने के लिये दौड़ा। उस समय वह प्रलयानल के समान प्रतीत होता था, हाथ में सुन्दर सुवर्ण की घंटिकाओं से सजा त्रिशूल लेकर वह इन्द्र को मारने के संकल्प से उनके ऊपर झपटा। "इन्द्र! तू मारा गया, अपनी करनी का फल भोग" यह कहते हुए उसने तेज से तेज जाज्वल्यमान चमकते हुए त्रिशूल को इन्द्र के ऊपर फेंक ही तो दिया। उस त्रिशूल को पुच्छल प्रकाशमान ग्रह के सदृश अपनी ओर आते देखकर देवेन्द्र ने एक दिव्य बाण छोड़ कर बीच में ही उस त्रिशूल के टुकड़े कर दिये और उसे अस्त्र ग्रहण करने के लिये पुनः अवसर न देकर वज्र से उसके कंठ पर प्रहार किया। इन्द्र के आश्चर्य का तब ठिकाना नहीं रहा जब उस वज्र से नमुचि के शरीर में घुरसट नहीं आई। इन्द्र को पूरा विश्वास था, कि वज्र के लगने से नमुचि बच नहीं

सकता किन्तु मरने की कौन कहे उसकी सात त्वचाओं में से एक ऊपर की भी त्वचा नहीं कटी। इससे इन्द्र परम विस्मित हुए वे सोचने लगे—"आज इस वज्र को हो क्या गया, इसकी तीक्ष्ण धार इस असुर के शरीर संस्पर्श से कुन्ठित क्यों हो गई, यह वज्र दधीचि मुनि के तप तेजप्रोत अस्थियों से बना है, विश्व-कर्मा ने इसका निर्माण किया है, भगवान् की शक्ति इसमें विशेष रूप से व्याप्त है, इसने बड़े २ शूर मानी प्रवल पराक्रमी विश्व विजयी दैत्यों का वध किया है। वृत्रासुर अपने को अजरामर और त्रिलोक विजयी मानता था, उसके सिर को इसने धड़ से पृथक् किया है, पर्वतों के पंखों से प्राणी पीड़ित होकर मेरी शरण गये! तब इसी वज्र से मैंने पर्वतों के पंख काट डाले, नाश होने वाली प्रजा को पंख काट कर सुखी करने वाला यह वज्र आज कुन्ठित क्यों हो गया। अभी इस वज्र से मैंने कितनों को मारा है। आज तक यह कभी व्यर्थ नहीं हुआ, फिर आज यह शक्ति हीन क्यों बन गया। घोर तपस्या के वल से वलवान् हुए और वरदान के दर्प से दर्पित असंख्यों असुरों को इसनें यम का सदन दिखाया है फिर आज इसे हो क्या गया। वृत्रासुर तो किसी भी अस्त्र से नहीं मारा जा सकता था, उसके सम्मुख यह तुच्छ नमुचि क्या वस्तु है। उसे मारने वाला वज्र इस दैत्य पर मोघ सिद्ध हुआ। यद्यपि इसमें वही तेज व्याप्त है, किन्तु इसने मुझे युद्ध के समय में शत्रु के सम्मुख लज्जित किया, अतः आज से मैं इसे पुनः धारण न करूँगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! त्रिलोकेश इन्द्र इस प्रकार सोच ही रहे थे, कि आकाश से अरूपा वाणी सुनाई दी आकाश वाणी कह रही थी—"हे इन्द्र! हतोत्साह मत हो। पहिले इस

असुर ने बड़ी घोर तपस्या की थी, तब मैंने इसके माँगने पर इसे वर दिया था, कि तुम्हारी सूखी व गीली वस्तु से मृत्यु न होगी।" उसी वर के प्रभाव से तुम्हारा वज्र व्यर्थ हो गया। अब इस वर को दृष्टि में रखकर तुरन्त इसके मारने का कोई अन्य उपाय सोचो।"

इस प्रकार आकाश वाणी को सुनकर इन्द्र सावधान हुए। वे चिन्ता कर ही रहे थे, कि सम्मुख उन्हें समुद्र पर तैरता हुआ क्षीर सागर का भाग दिखाई दिया। वह समुद्र फैन वायु लग जाने से सूख सा भी गया था और पानी में रहने से गीला भी था। अतः उसे न तो विशुद्ध गीला ही कह सकते हैं विशुद्ध सूखा ही लपेट लिया और उस फैन मय वज्र से उस नमुचि के सिर को धड़ से काट दिया।

महाबली परम पराक्रमी नमुचि के मारे जाने पर सभी चराचर प्राणी देवेन्द्र की प्रशंसा करने लगे। सिद्ध, चारण ऋषि, मुनिगण इन्द्र को साधुवाद देने लगे। गन्धर्व उनके गुणों का गान करने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। सारांश कि तीनों लोकों में सर्वत्र आनन्द छा गया। सभी लोग इस नमुचि के कारण दुखी थे। आज इन्द्र ने इसे मार कर सभी को निर्भय बना दिया। अब तो सभी का उत्साह बढ़ गया, सभी अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने लगे, सभी असुरों की सेना को उसी प्रकार मार गिराने लगे जिस प्रकार सिंह मृगों को मार गिराता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! बलि के संज्ञा शून्य होकर मृत समान गिर जाने पर तथा जम्भ, बल पाक और नमुचि के मर जाने पर दैत्य शक्ति हीन हो गये। देवतागण उनको उसी प्रकार काटने लगे जिस प्रकार कृषक खेती को काटता

है। देव सेना में हर्ष और असुर सेना में सर्वत्र विषाद छा गया।"

छप्पय

नमुचि, पाक, बल असुर बान मिलिकै बरसाये।
इन्द्र, सारथी, अश्व ढके सुरगन घबराये॥
इन्द्र निकसि बल पाक वज्रतै दोऊ मारे।
मरै नमुचि जब नहीं गिरानभ बचन उचारे॥
आर्द्र शुष्क तजि हनौ रिपु, वज्र फैनमय करयो हरि।
नमुचि शीश छेदन करयो, हृदय विष्णु को ध्यान धरि॥

देवासुर संग्राम की समाप्ति

[५४०]

ब्रह्मणा प्रेषितो देवान् देवार्षिनारदो नृप ।
वारयामास विबुधान् दृष्ट्वा दानवसंत्तयम् ॥ॐ

(श्री भा० ८ स्क० ११ अ० ४३, श्लो०)

छप्पय

जीते देवनि शत्रु दैत्य दानव घबराये ।
ब्रह्मा बाबा डरे तुरत नारद बुलवाये ॥
कह्यो जाइकें सुरनि करो उपरत तुम रनतैं ।
विधि आज्ञा सिर धारि आइ बोले देवनितैं ॥
अमृत पियो जय श्री लही, करी कृपा श्री अजित अति ।
आयसु विधि मानो करो, दैत्यनि को संहार मति ॥

संसार की स्थिति द्वंद से है । भले के साथ बुरा भी रहेगा तभी संसार चक्र चलेगा । विद्या में सृष्टि नहीं अविद्या के

ॐ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! युद्ध को रोकने के लिये ब्रह्माजी ने नारदजी को भेजा । देवार्षि नारदजी ने देखा बहुत से दानवों का व्यर्थ नाश हो रहा है तब उन्होंने देवताओं को युद्ध करने से निवारण कर दिया ।"

साथ से सृष्टि है। केवल धर्म से ही काम चलता तो अधर्म की सृष्टि क्यों होती, सत्ययुग के साथ ही कलियुग क्यों सटा रहता। सुरों से काम चल जाता तो, असुरों के उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी। शरीर में और धातुएँ भी हैं मल भी है। सम्पूर्ण मलक्षय हो जाय तो जीवन नहीं रह सकता। मल में भी जीवन है शुक्र में भी। देवता असुर सभी ब्रह्माजी के बनाये हैं, सृष्टि के लिये दोनों आवश्यक हैं। दोनों के ही ब्रह्माजी पिता हैं। चराचर उन्हीं के द्वारा उत्पन्न होता है इस लिये उन्हें लोक पितामह भी कहते हैं। कोई अन्याय करे। अधिक बढ़ जाय तो उसको यथा स्थान लाने के लिये दण्ड देना तो वे भी चाहते हैं, किन्तु सर्वथा नाश वे किसी का नहीं चाहते। इस द्वंद को वे बनाये रखना चाहते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं और असुरों का घोर संग्राम हुआ। जब तक बलि लड़ते रहे, तब तक तो असुर बड़े मनोयोग से संग्राम में संनद्ध रहे, किन्तु जब बलि भी मूर्छित हो गये और महाक्रमी नमुचि भी इन्द्र के वज्र से वरदान प्राप्त होने पर भी मर गये, तब तो असुरों का साहस छूट गया। वे घबरा गये, देवताओं का उत्साह बढ़ गया, वे एक ओर से दैत्य दानवों को काटने और मारने लगे। ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी ने जब अपनी दिव्य दृष्टि से देखा कि दैत्य दानवों का व्यर्थ में संहार हो रहा है तब तो उन्हें चिन्ता हुई। यह उन्हें अभीष्ट नहीं था। उन्होंने नारदजी का स्मरण किया। स्मरण करते ही ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारद तुरन्त अपने पिताजी के सम्मुख उपस्थित हो गये और प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—"पिता जी! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है?"

ब्रह्माजी ने बड़े स्नेह से कहा—"देखो, भैया! क्षीर सागर

के तट पर जो देवासुर संग्राम हो रहा है, उसमें भगवान् की विशाल बाहुओं के आश्रय से देवताओं को विजय श्री ने वरण किया है। वे विजय के मद में मदोन्मत्त होकर व्यर्थ दैत्य दानवों का संहार कर रहे हैं। तुम जाकर देवताओं को युद्ध से उपरत कराओ और असुरों को सुरों से बचाओ। सृष्टि में किसी का भी बीज नाश न होना चाहिये।

ब्रह्माजी की ऐसी बात सुनकर मनोवेग से भी शीघ्र जाने वाले देवर्षि नारद तुरन्त क्षीर सागर के समीप पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, देवता दैत्यों को खदेड़ खदेड़ कर मार रहे हैं। नारदजी ने अपने हाथ में पीताम्बर लेकर उसे हिलाकर देवताओं से युद्ध न करने का संकेत किया। रणाङ्गण में वीणा लिये हुए नारदजी को देखकर सभी देवता युद्ध बंद करके उत्सुकता पूर्वक उनके समीप आ गये और उन्हें घेर कर खड़े हो गये। उन सब को देखकर नारदजी बोले—"भाई, तुम लोग अब व्यर्थ युद्ध क्यों कर रहे हो?"

देवताओं ने कहा—"महाराज, ये तो हमारे पुराने शत्रु हैं?"

नारदजी ने कहा—"भाई, शत्रु को विजय करना ही तात्पर्य है। उसका बीज नाश करना तो अभीष्ट नहीं। अपना स्वार्थ साधकर विजय करके शत्रु को छोड़ देना चाहिये। आप लोगों की लक्ष्मी नष्ट हो गई थी। श्रीभगवान् की विशाल भुजाओं के आश्रय से तुम लोगों ने भर पेट अमृत पी लिया त्रैलोक्य की विजय लक्ष्मी ने तुम्हें पुनः वरण कर लिया तुम्हारी समृद्धि हो गई। अब इन मरों को क्या मारना। भागते हुओं पर क्या प्रहार करना अब तुम लोग स्वर्ग में जाकर सुख भोगो।

युद्ध को समाप्त करो। ऐसी भगवान् ब्रह्माजी की तुम्हारे लिये आज्ञा है।

नारदजी के मुख से लोक पितामह की ऐसी आज्ञा सुनकर सभी देवता युद्ध से उपरत हो गये। उन्होंने मुनिवर के वचनों को मानकर क्रोध को त्याग दिया। वे सब आनंद मानते विजय के बाजे बजाते विजयोल्लास में चिल्लाते हुए स्वर्ग को चले गये।

यह सुनकर राजा परीक्षित् ने पूछा—"महाराज ! फिर क्या हुआ असुरों को तो बड़ा क्लेश हुआ होगा। मूर्छित बलि की मूर्छा भंग हुई या वे वहीं पड़े रहे ?"

इसपर श्रीशुक बोले—"राजन् ! दैत्यराज महाराज बलि तो तब तक अचेत ही पड़े थे। नारदजी ने जब उन्हें इसी अवस्था में देखा, तब बचे हुए असुरों से उन्होंने कहा—"देखो, भैया ! अब यहाँ तुम्हारा रहना उचित नहीं । अब तुम लोग स्वर्ग भी मत जाओ । स्वर्ग पर तो अब पुनः देवताओं का अधिकार हो गया। तुम इन विरोचन नन्दन दैत्यराज को इसी अवस्था में उठाकर अस्ताचल पर्वत पर ले जाओ। वहाँ जाते ही इनकी मूर्छा भंग हो जायगी और भी जो मरे असुर हैं, जिनके कटे सिर खो नहीं गये हों अंग प्रत्यंग कटकर इधर उधर नष्ट नहीं हो गये हों, उन सब को भी ले जाओ। शुक्राचार्य मृत संजीविनी विद्या जानते हैं, वे इन सब को जिला देंगे।"

नारदजी की ऐसी शुभ सम्मति सुनकर असुर परम सन्तुष्ट हुए और वे सब मृतक और घायलों को लेकर अस्ताचल पर चले गये। वहाँ पहुँच कर शुक्राचार्यजी ने ज्यों ही महाराज बलि को स्पर्श किया त्यों ही वे सोते हुए पुरुष की भांति आँखें

मलते हुए उठकर बैठ गये । उन्होंने चारों ओर देखकर पूछा —"मैं यहाँ कहाँ आ गया ।"

तब सबने उन्हें युद्ध की बातें सुनाईं । वे तो बड़े विवेकी ज्ञानी और संसार के तत्व को जानने वाले थे। अपनी पराजय सुनकर भी उन्हें तनिक भी दुःख नहीं हुआ। उन्होंने सोचा —"इस सांसारिक हार जीत में रखा ही क्या है। यह तो बच्चों का क्षणिक खेल है, मन के मोदक हैं। यथार्थ में तो वही विजयी है जो जगत से मुख मोड़कर उन प्रभु के स्मरण में ही तन्मय हो गया है।" इस प्रकार सोचकर वे पराजय के कारण तनिक भी व्यथित नहीं हुए।

शुक्राचार्य जी ने अन्य क्षत विक्षत तथा आहत असुरों के अंगों के अवयव उनके शरीर में जोड़कर उन्हें मृत संजीवनी विद्या के प्रभाव से जिला दिया।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! यह मैंने आपको देवताओं की श्री नष्ट होने की, समुद्र मन्थन और देवासुर संग्राम की संक्षेप में कथा सुना दी अब आप और आगे क्या सुनना चाहते हैं ?"

छप्पय

मुनि बचननिकूँ मानि युद्धतैं विरत भये सुर।
जयको शङ्ख बजाय इन्द्र हर्षित पहुँचे पुर॥
बलि सँग मृत सब असुर लाइ इत शुक्र जिवाये।
यदपि पराजित भये तदपि नहिँ बलि सकुचाये॥
देवासुर संग्राम अरु, क्षीर सिन्धु मंथन कथा।
सुनहिं पढ़हिं जे प्रेमतैं, तिनकूँ न ब्यापे व्यथा॥

———

श्री शिव को मोहिनी दर्शन की लालसा।

(५४१)

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः।
सोऽहं तद् दृष्टु मिच्छामियत्ते योषिद्वपुर्धतम् ॥❀

(श्री भा० ८ स्क० १२ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

श्रीपशुपति जब सुनी बने हरि नरतै नारी।
रूप मोहिनी लखन भई उत्कंठा भारी॥
चढ़े बैल पै लई संग गिरिराजकुमारी।
पहुँचे हरिपुर हरषि कामरिपु हर त्रिपुरारी॥
करि विनती हँसि हरि कहैं, नाथ! बात अद्भुत सुनी।
मोहन रूप दुराइ कैं, आप बने प्रभु मोहिनी॥

कोई विचित्र वस्तु हो, अपूर्व हो नूतन अद्भुत हो, तो उसे

❀ श्री शिवजी भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं—"हे विभो ! गुणों के द्वारा रमण करते हुए, आपने जो जो अवतार धारण किये हैं, वे सब मैं देखे हैं। सुना है आपने स्त्री का भी रूप धारण किया था उसे मेरी देखने की इच्छा और है।"

देखने के लिये लोगों में प्रारम्भ में बड़ी समुत्सुकता रहती है। किसी के दो सिर हों, दो पुरुष बीच में जुड़े हुए हों यद्यपि यह कोई विशेष बात नहीं, किन्तु ऐसे लोग बहुत अल्प संख्या में होते हैं अतः उन्हें देखने के लिये सबकी इच्छा होती है, आरम्भ में जब वायुयान चले ही चले थे, तो उन्हें देखने दूर दूर से लोग आते थे, किन्तु जब वे नित्य व्यवहार में आने लगे, तो उन्हें देखने के लिये किसी को भी उत्सुकता नहीं रही। नई वस्तु को देखकर कुछ लोगों को विस्मय होता है, पुरानी पड़ जाने से फिर कोई पूछता ही नहीं। भगवान् की माया विचित्र है, उसमें सब कुछ सम्भव हैं। इसलिये भगवान् के समस्त खेलों को देखकर हाथ जोड़ देने चाहिए। उनकी परीक्षा लेना या उन्हें देख कर अत्यधिक विस्मित या चिंतित हो जाना यह अच्छी बात नहीं।

सूतजी ने जब देवासुर संग्राम की समाप्ति करते हुए पूछा कि अब आप और क्या सुनना चाहते हैं, तो शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपने और अवतारों की कथा तो विस्तार के साथ कही, किन्तु मोहिनी माई के अवतार की कथा तो अत्यन्त ही संक्षेप में कह दी। इसका कुछ विस्तार करें।"

सूत जी ने कहा—"महाराज, यह अवतार तो क्षण भर के लिये हुआ। असुरों को अपने हाव भाव कटाक्षों से मोहकर सुरों को अमृत पिलाकर अन्तर्हित हो गया। वह अवतार तो काम प्रधान है, कामिनियों को सुख देने वाला है, आप लोग त्यागी विरागी महात्मा इस अवतार के विषय में इतने उत्सुक क्यों हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह सत्य है

कि हमें कामी और कामिनियों की काममयी कथायें न सुननी चाहिए, किन्तु भगवान् के विषय में यह नियम लागू नहीं। भगवान् की तो समस्त लीलायें दिव्य हैं। उनमें काम की गन्ध ही नहीं। भगवान् में मन लगाना ही जीव का परम लक्ष्य है। सभी भक्ति भाव नहीं कर सकते। भक्ति के भी अनेक भेद हैं, कोई भगवान् को सखा मानते हैं, कोई अपना पुत्र ही समझते हैं। जो प्रेमरूपी भक्ति नहीं कर सकते हैं, वे भगवान् से द्वेष करके ही इस संसार सागर को पार कर गये हैं। काम से, द्वेष से भय से, स्नेह से और भक्ति आदि उपायों से भगवान् में चित्त लगाकर बहुत से लोग कामादिजन्य पाप से मुक्त होकर उनमें सायुज्य प्राप्त कर चुके हैं। इसीलिये किसी भी उपाय से हो मन को भगवान् में लगाना चाहिए। कामी असुर भगवान् के उस मोहक रूप में भले ही फँस गये हों, हम लोग तो भगवान् के उपासक हैं, उन्हें ही हम अपना सर्वस्व समझने वाले हैं अतः मोहिनी रूप भगवान् के अन्य चरित्र श्रवण से हमारी भक्ति की तो और वृद्धि ही होगी। यदि कोई उन स्त्री रूपधारी हरि की और लीला हो तो उसे सुनावें।"

हँसते हुए सूतजी बोले—"अजी, महाराज ! जो रूप मोहने के लिए सत्य संकल्प श्री हरि ने धारण किया है, उसे देखकर यदि कोई मोहित न हो, तब तो भगवान् असत्य संकल्प हो जायँ। महाराज ! औरों की तो बात ही क्या है योगीश्वरों के ईश्वर श्री सदाशिव भोले नाथ भी क्षण भर की इस मोहिनी भगवती के चक्कर में फँस गये।

उत्सुकता के साथ शौनकजी ने पूछा—"शिवजी कैसे फँस गये सूत जी ! इस चरित्र को आप हमें अवश्य सुनावें, जिसमें

हर और हरि दोनों का चरित्र होगा, वह तो गंगा, यमुना के संगम प्रयाग के सदृश पुण्यप्रद और परम पावन होगा।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, सुनिये महाराज! यह हरि हर चरित्र परम पवित्र है, धन्य है, भक्ति को बढ़ाने वाला है, असुरों की काभवृद्धि और भक्तों की भक्ति वृद्धि करने वाला है। यह इतना महत्व पूर्ण चरित्र है, कि महाराज परीक्षित् के बिना प्रश्न किये ही अपने आप भगवान् शुक ने यह चरित्र कह डाला। हाँ, तो सुनिये! देवासुर संग्राम की कथा समाप्त करते ही उसी झोंक में मेरे गुरु परमहंस चक्र चूड़ामणि, अवधूत शिरोमणि दिगम्बर, कामादि भावों से सर्वथा रहित, परम ज्ञानी श्री शुकदेव जी कथा प्रसङ्ग को पूर्ववत् चालू रखते हुए कहने लगे।

श्रीशुक बोले—"राजन्! समुद्र जब मथा गया और उसमें से जो विष निकला उसे पिलाने के लिये सब लोग शिव जी को ले आये थे। शिवजी जहर का पान कर लिये। वहाँ उन्होंने भगवान् को कच्छप रूप में भी दर्शन किये थे, अजित रूप में तो प्रत्यक्ष ही विराजमान थे। अमृत लेकर जब धन्वन्तरि रूप प्रादुर्भूत हुए तब भी भगवान् वृषभध्वज ने उनकी बाँकी झाँकी की। प्रतीत होता है, जब असुरों ने अमृत् के लिये छीना झपटी आरम्भ की तो शान्त प्रिय शंकरजी वहाँ से चले गये। उन्होंने सोचा होगा—"यहाँ रहूँगा तो किसी न किसी का पक्ष लेना ही पड़ेगा। मेरे भक्त देवता भी हैं असुर भी हैं। यदि कहीं असुर आकर रोये गाये और मैंने उनका पक्ष ले लिया तो हम दोनों में ही युद्ध छिड़ जायगा, यही सब सोच कर वे चले गये होंगे।"

जब भगवान् ने मोहिनी रूप रख कर अमृत कलश को

असुरों से छीन लिया और देवताओं को पेट भर पिला दिया, जिससे देवताओं की विजय हो गई और असुर मर गये। यह समाचार सब ने जाकर शङ्कर जी से कैलाश पर निवेदन किया।

यह सुनकर भगवान् भूतनाथ को बड़ी उत्सुकता हुई वे बार बार सोचने लगे—"भगवान् पुरुष से स्त्री कैसे बने होंगे। पुरुष रूप में ही वे इतने मोहक हैं, तो मोहिनी बन कर तो न जाने कैसे चोटी गूँथकर इठलाते हुए चले होंगे, कैसे कामी दैत्य ठगे होंगे कैसे वे लक्ष्मी पति स्त्री वेष में सजे बजे होंगे।" इस प्रकार उनके मन में असंख्यों विचार उठने लगे। वे अपनी उत्सुकता को रोक हो न सके। अपने स्वामी को विविध वेषों में देखने की समुत्सुकता सभी को होती है। सभी की स्वाभाविक इच्छा होती है, अपने प्रेमास्पद को विविध रूपों में निहारें। अतः बड़ी उत्कंठा से वे पार्वती जी से बोले—"प्रिये! भगवान् का रूप देखने की तो मेरी बड़ी इच्छा है।"

पार्वती जी ने व्यंग के स्वर में कहा—"बस, तुम्हें तो सदा ऐसी ही बातें सूझती हैं। तुमने कभी स्त्री नहीं देखी?"

सतीपति बोले—"प्रिये! सत्य कहता हूँ, संसार में मैंने असंख्यों स्त्रियों को देखा, किन्तु तुम्हारे समान सुन्दरी मैंने तीनों लोकों में कहीं नहीं देखी। मैं यह देखना चाहता हूँ, कि भगवान् का वह रूप क्या तुम्हारे रूप से भी अधिक सुन्दर होगा क्या? मैं तो समझता हूँ तुमसे मोहक वह हो ही नहीं सकता।"

मन ही मन प्रसन्न होकर ऊपर से प्रेम का भाव प्रदर्शित करती हुई भगवती पार्वती बोली—"चलो, हटो! तुम्हें सदा ये

व्यर्थ की ही बातें सूझा करती हैं। सदा मुझे ही बनाते रहते हैं।"

अत्यन्त प्यार से उनकी दृष्टि में दृष्टि घोल कर सदाशिव बोले—"प्रिये ! मैं तुम्हें बनाता नहीं। सत्य कहता हूँ, उस मोहिनी रूप भगवान् के दर्शन करना चाहता हूँ। मेरा कोई अन्य भाव नहीं। तुम भी चलो साथ। तुम्हारे बिना अकेला तो मैं जा नहीं सकता। ये भूत, प्रेत, पिशाच भी चलें सभी उस मोहिनी रूप के दर्शनों से कृतार्थ हों।"

प्रायः ऐसा होता है, स्त्रियों को रूप देखने का बड़ा कुतूहल होता है जब वे किसी अपने से सुन्दरी स्त्री को देखती हैं, तो उसमें अनेकों त्रुटियाँ बताती हैं। क्या सुन्दरी है, बड़ी प्रशंसा सुनते थे, ऐसी है वैसी है कुछ भी नहीं है भौंड़ी है। पार्वती जी ने भी सोचा मैं भी तो देखूँ भगवान् ने कैसा मोहिनी रूप बनाया जिस मेरे रूप पर अनुरक्त हुए सर्वज्ञ शिव सदा मुझे अपने अंक में धारण किये रहते हैं, जिन्होंने अपने आधे अंग में छिपा कर अर्धनारी नटेश्वर का रूप बना लिया है, क्या वह मोहिनी मुझसे भी अधिक मोहक होगी ?" यही सब सोच कर शिवा ने भी चलने की सम्मति दे दी।

अब क्या था, बैल पर झूल पड़ने लगी। उन पर सिंहासन रखा गया। भूत, प्रेत पिशाचों ने हाहा हूहू शब्द किया डमरू बजा। यात्रा की तैयारियाँ हो गई। शिवा के साथ बैल के ऊपर चढ़े। बात की बात में भगवान् बैकुंठनाथ के धाम में पहुँच गये।

आज पार्वती सहित भगवान् भूतनाथ को उत्सुकतापूर्वक आया हुआ देखकर रमापति भगवान् शीघ्रता के साथ उठकर

खड़े हुए। अपने पार्षदों को डाँटते हुए बोले अरे! तुम लोग कैसे गुम्म सुम्म खड़े हो, देखते नहीं विश्वभावन भगवान विश्वनाथ पधारे हैं, पाद्य लाओ, अर्घ्यलाओ, माला बनाओ, बाजे बजाओ, आसन बिछाओ।"

बड़ी नम्रता के साथ शिव ने कहा—"अजी, महाराज, इन सब की क्या आवश्यकता है। आपका अनुग्रह ही सबसे बड़ा सत्कार है।"

इस प्रकार भगवान् ने शिवजी का समुचित आदर सत्कार करके उन्हें दिव्य सिंहासन पर बिठाया। स्वच्छ चित्त से आसन पर पूजित होकर बैठ जाने पर शिव जी ने भगवान की स्तुति आरंभ की—

"हे देवाधिदेव! आप जगत् में सवत्र व्याप्त हैं। आप जगत के ईश्वर हैं। जगत् आपका रूप है, आप ही सब भावों के आत्मा हैं! आपही सबके हेतु हैं, ईश्वर हैं। आप जगत् के आदि हैं। मध्य हैं। अनन्त है। आप स्वयं आदि मध्य अन्त से रहित हैं। आप दृश्य भी है, द्रष्टा भी हैं। भोग भी हैं भोक्ता भी हैं। सत्य हैं, चेतन हैं, ब्रह्म है आप सब के उपास्य हैं। आप अमृत हैं, निगुण हैं, निशोक हैं, आनन्द स्वरूप हैं, निर्विकार हैं, सर्वमय हैं! सबसे पृथक हैं, पूर्ण हैं, विश्व के कारण हैं, विश्व के पालक हैं, विश्व के संहारक हैं। शासक हैं, निरपेक्ष हैं, सबके फलदाता हैं, धाता हैं, विधाता हैं, ज्ञाता हैं, ज्ञान हैं, ज्ञेय हैं। आपही कार्य हैं, कारण हैं अभेद हैं, उपाधि से रहित हैं। कोई आपको ब्रह्म कहते हैं कोई धर्म, कोई प्रकृति पुरुष से परे पुरुषोत्तम, कोई परमपुरुष, कोई महापुरुष और कोई आपको अवतार बताते हैं, आप अज्ञेय हैं, आप सर्वात्मक हैं, विज्ञान धन हैं, आप सर्वत्र समान भाव से व्यापक हैं। आप

सम्पूर्ण जगत् में प्रविष्ट होकर उसकी चेष्टा, स्थिति, जन्म, नाश प्राणियों के कर्म तथा संसार के बन्धन मोक्ष के ज्ञाता हैं।"

ऐसी लम्बी चौड़ी स्तुति सुनकर लक्ष्मीनाथ मुसकराये। सर्वज्ञ प्रभु सब जानते हुए भी अनजान की भाँति हँसते हुए बोले—"हे पार्वती पति! आज आप इतनी लम्बी चौड़ी स्तुति क्यों कर रहे हैं। महाराज! बुरा तो मानें नहीं। इस इतनी बड़ी स्तुति में कोई हेतु छिपा हुआ है। स्तुति तो बहुत हो गई अब अपना अभिप्राय कहिये।"

सरलता के स्वर में शिवजी बोले—"नहीं, महाराज! कोई विशेष बात तो है नहीं। एक मुझे उत्सुकता है?"

भगवान् बोले—"वह क्या?

शिवजी कुछ रुक रुककर बोले—"भगवान्! आपने जो सनक, सनन्दन, सनत् कुमार और सनातन के रूप कुमार अवतार लिये हैं उनके प्रायः मैं नित्य ही दर्शन करता हूँ। लोक व्यवहार से वे मुझसे ज्ञान की जिज्ञासा करते हैं, विविध प्रश्न पूछते हैं। आपने जो रसातल में गई पृथ्वी के उद्धार के निमित्त सूकरावतार ग्रहण किया था उसे भी मैंने देखा था। नारद, नर, नारायण, कपिल दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, मत्स्य धन्वन्तरि, नृसिंह, वामन परशुराम, हँस, हयग्रीव, व्यास, राम, कृष्ण, बलराम, बुद्ध कल्पिक आदि आपके जितने भी गुणों के आश्रय से क्रीड़ा करते हुए आपने अवतार धारण किये थे उन सब के तो मैंने भली भाँति दर्शन किये हैं, किन्तु भगवन्! मैंने सुना है आपने स्त्री का भी रूप धारण किया था। उस लटके को मैं और देखना हूँ। छम्म छम्म करके कैसे घूमे

होंगे। कुछ पुरुष पद की झलक उसमें थी या सोलहू आने लुगाई ही बन गये थे। आपको लुगाई बने मैंने कभी नहीं देखा।"

यह सुनकर भगवान् खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"हाँ, महाराज! मैंने चुरी बीछियाँ पहिन कर ओढ़नी ओढ़ी थी, चोली पहिनी थी। असुरों को अपनी चटक मटक दिखाई थी।"

शिवजी बच्चों की भाँति अत्यन्त उत्सुकता के साथ बोले—"महाराज! मैंने कैलाश पर सुना था, कि आपने न तीर चलाया न कमान उठाई, न गदा घुमाई न बाँसुरी बजाई। केवल सैंन चला कर मुँह मटका कर ही असुरों के हाथ से अमृत छीन लिया था और उनके देखते देखते उनकी आँखों में धूलि झोंककर देवताओं को अमृत पिलाते रहे, और वे सब मूढ़ कामी असुर काठ की मूर्ति बने चुपचाप देखते रहे।"

हँसकर भगवान् ने सिर हिलाया और बोले—"हाँ ऐसा ही हुआ था।"

शिवजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"तो महाराज! उस लटके को तो मैं भी तनिक देखना चहता हूँ उस छद्म वेष की बाँकी झाँकी तो मैं भी करना चाहता हूँ।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"अजी, शिवजी! आप बड़े बूढ़े होकर इस चक्कर में क्यों फँसते हो। जो हो गया सो हो गया। काठ की हंडी दुबारा थोड़े ही चढ़ती हैं। संभव है, मैं फिर वैसा रूप अब बना भी न सकूँ। और रूप तो मैंने एक कारण विशेष से बना लिया था। जब अमृत के कलश को बल पूर्वक असुर मेरे अंशावतार धन्वन्तरि के हाथ से छीन ले गये, तो मैंने देवताओं का कार्य विचार कर दैत्यों को कुतूहल में डालने के लिये स्त्री का मोहिनी रूप बनाया था। वह तो काम वर्धक रूप

दैत्यों के ही लिये था। आप तो देव भी नहीं महादेव हैं, आप उसे देखकर क्या करेंगे।"

शिवजी ने अत्यन्त उत्सुकता के साथ कहा—"नहीं महाराज! मेरी बड़ी इच्छा है, उस रूप को देखने की हानि ही क्या है, फिर एक बार सही। आपके लिये तो यह सब नाटक ही है।"

भगवान् ने हँसते-हँसते कहा—"अच्छी बात है महाराज! मुझे क्या? किन्तु फिर सम्हले रहना पार्वतीजी से बोले—"सुनती हो गिरिराज किशोरी भोले बाबा को पकड़े रहना।"

मुँह बनाकर पार्वती ने कहा—"अब महाराज! आप जाने वे जाने मैं तो आप लोगों के चक्कर में पड़ती नहीं। आप भले देवी बनों चाहे देवा। मोहनी बनो चाहें मोहना। आपस में ही दोनों सुलझ लो।"

शिवजी बोले—"अर्जी, महाराज! आप दिखाइये भी!" भगवान् कुछ सम्हल कर बोले—"अच्छा, कामी पुरुषों के अत्यन्त सम्माननीय और कामोद्दीपन करनेवाले उस कामिनी रूप को मैं आप को दिखाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर भगवान् तुरन्त ही अन्तर्धान हो गये। शिवजी चारों ओर चकित नेत्रों से देखने लगे कि मोहिनी भगवान् किधर से प्रकट होते हैं।"

छप्पय

हरि हँसि बोले देव! भये क्यौं ऐसे उत्सुक।
असुर अमृत लै भगे करयो तब मैंने कौतुक॥
रूप मोहनी धरयो आँधरे दैत्य बनाये।
सुर संतोषित करे प्याइकैं अमृत छकाये॥
इच्छा उत्कट उमापति, तो पुनि तुम्हें दिखाउँगो।
सरस मोहनी रूपकी, झाँकी अबहिँ कराउँगो॥

शिव का मोहिनी दर्शन

(५४२)

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियम्,
विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलयालसद्,
दुकूलपर्य स्तनितम्बमेखलाम् ॥
(श्री भा० ८ स्क० १२ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

अन्तर्हित हरि भये तुरत निरखैं हर इत उत ।
उत्सुकता अति प्रबल प्रेमतैं चहुँ दिशि चितवत ॥
इतने में ई लखी नारि उपवनतैं आवत ।
कंदुक क्रीड़ा करत कपरदी चित्त चुरावत ॥
दमकै सौदामिनि सरिस कटितट पै कसि झीन पट ।
पीन पयोधरि भारतैं नमित फिरत सरवर निकट ॥

इन आँखों को भगवान् ने वाणी तो दी नहीं, किन्तु इतनी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इतने ही में शिव जी ने समीप के उपवन के अरुण वर्ण के नूतन पल्लवों से युक्त वृक्षों से जिनमें चित्र विचित्र पुष्प खिल रहे हैं ऐसे वृक्षों से गेंद उछाल उछाल कर क्रीड़ा करती हुई एक सुन्दरी स्त्री को देखा, जिसके देदीप्यमान दुकूल से सुशोभति नितम्ब देश पर मेखला सुशोभित थी ।

शक्ति प्रदान की है, कि इनमें सब कुछ शक्ति भरी हुई है हृदय के समस्त भाव आँखों में अंकित हो जाते हैं और आँखें ही उन्हें पढ़ लेती हैं, समझ लेती हैं, स्वीकार कर लेती हैं। प्राणी व्यर्थ में बोलता है। बोलना अपूर्णता का, असंयम का अधीरता का चिन्ह है। आँखें जहाँ चार हुईं, सब बातें हो गईं। मिलना तो नैनों का ही नोक है। सुन्दर सूँघकर तथा छूकर भी भाव व्यक्त किये जाते हैं, किन्तु देखकर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना सुनकर, सूँघकर अथवा छूकर नहीं होता हत्या की जड़ ये नेत्र हैं। ये नेत्र रूप के लालची होते हैं। संसार में दो ही तो वस्तु हैं, नाम और रूप। सभी दृश्य पदार्थों में अच्छा बुरा किसी प्रकार का भी रूप तो है ही, किन्तु सुन्दर सुरूप को देखकर आखें गड़ जाती हैं, मन को बार बार प्रेरित करती हैं। मन भी अधीर हो उठता है और उसे पाने का प्रयत्न करता है। यदि इन अनित्य पदार्थों के रूप में चित न फँसकर नित्य आनन्द रूप श्रीहरि के रूप लावण्य में फस जाय, तब तो बेड़ा पार ही हो जाय, यह संसार का आवा-गमन सदा के लिये छूट जाय, अतः जिसे रूप दर्शन का व्यसन हो उसे प्रभू के रूप का ही अवलोकन करना चाहिए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब भगवान् अन्तर्हित हो गये, तो शिवजी चारों ओर देखने लगे, कि भगवान कहाँ से प्रकट होते हैं।

जहाँ श्रीशिवजी विराजमान थे। वहाँ सम्मुख तो श्रीहरि के मणि माणिक्यमय भवन थे इधर एक अत्यन्त ही रमणीय उपवन था। जिसमें बारहों महीने ऋतुराज वसंत मूर्तिमान् होकर रहते थे। जिसमें नाना भाँति के पुष्प और फलों वाले बहुत से वृक्ष थे। उसके बीच में स्वच्छ सलिल वाला सुन्दर सुघड़ सरोवर था। जिसमें जल जन्तु किलोल कर रहे थे,

भाँति भाँति के कमल खिलकर उसकी शोभा को सहस्र गुणी बढ़ा रहे थे, सरोवर के चहुँदिशि पंक्तिवद्ध सघन वृक्ष लगे हुए थे, जिनके चित्र विचित्र पुष्प खिल रहे थे, अरुण वरण के नव पल्लव वायु के स्पर्श से हिल रहे थे, एक दूसरे की शाखा से शाखा सटाकर परस्पर में मिल रहे थे। कोई पुष्पों से परिपूर्ण थे, तो कोई फलों के भार से नमित थे। सघन द्रुमों का झुर मुट ऐसा प्रतीत होता था मानों किसी ने पुष्प गुच्छ सजा कर रख दिया हो।

शिवजी की दृष्टि ज्यों ही उस फल पुष्पों वाले वृक्ष के झुर मुट की ओर पड़ी त्यों ही क्या देखते हैं, कि एक नव यौवना युवती उन वृक्षों में से उसी प्रकार निकल रही है जैसे मेघों से विद्युत्। वह स्वाभाविक यौवन के मद में अलसाती, गेंद को उछालती इधर से उधर स्वेच्छा से क्रीड़ा कर रही है। उसके मांसल और पीन नितम्ब देदीप्यमान बहुमूल्य क्षीण दुकूल से आच्छादित हैं। उस पर सुवर्णमयी मेखला कुछ लटकती सी हिल रही है। उसका उदर प्रदेश अत्यंत क्षीण है। श्रोणी के भार से नमित सी, स्तन और उनके ऊपर पड़े चन्द्रा-हार, मुक्ता हार, वनमाला आदि मालाओं के भार से जिसकी क्षीण कटि पद पद पर लचती हुई टूटी सी जाती है। जो अपने चञ्चल अरुण चरण पल्लवों को निर्दयता पूर्वक इधर से उधर ले जाता है, उनमें पड़े नूपुर मंजीर की भाँति शब्द करते हुए मानों पग पग पर मना कर रहे हैं, विरोध कर रहे हैं कि इन कमल से भी कोमल चरणद्वय के साथ ऐसा अन्याय मत करो, इन्हें इस कठिन अवनि पर मत घसीटो। किन्तु स्वाधीन पति के समान उनकी उपेक्षा करती हुई वह कंदुक क्रीड़ा में तन्मय है। अपने कोमल कोमल करों से कंदुक को

क्रीड़ा के निमित्त कुछ ऊपर उछालती हैं, फिर ऊपर से नीचे नचाती हुई आने वाली गेंद को लपकने के लिये उसी में दृष्टि गड़ा कर जब वह दौड़ती है, तो उसका उभरा हुआ वक्षःप्रदेश और लच जाता है अञ्चल खिसक जाता है कंचुकी ढीली हो जाती है और कोमल पद इधर उधर स्खलित से होते हुये प्रतीत होते हैं। सिर का वस्त्र पुनः पुनः ऊपर निहारने से खिसक कर कंधे पर एकत्रित सा हो गया है, जिससे कृष्ण नागिनी के समान झोटा खाती हुई उसकी वेंणी हिल रही थी। उसकी क्रीड़ा एक दिशा को लक्ष्य में रखकर नहीं हो रही थी दिशा विदिशाओं में कन्दुक उछालने की चपलता से उसके उत्फुल्ल कमल के सदृश बड़े बड़े विशाल नेत्र चञ्चल हो रहे थे। आकाश में फैंकी हुई गेंद को वह अपने दोनों नेत्रों से उसी प्रकार एकाग्र होकर निहारती थी मानों दो चकोर चलते हुए चन्द्र को निहार रहे हों। शोभा में पूर्ण चन्द्र को भी लज्जित करने वाले तथा कोमलता में कमल को भी तिरस्कृत करने वाले उनके मनोहर मुख पर छिटकी हुई काली काली घुँघराली अलकें ऐसी ही लगती थीं, मानों चन्द्र की पत्नी रोहिणी अपने मुख को पति के मुख में सटाये हो और उसकी नीली अलकें सजीव होकर उसके अमृत का पान कर रही हों। उसके कान के कमनीय कनक कुंडल अपनी कान्ति से कपोलों की श्रीवृद्धि कर रहे थे। कभी कभी क्रीड़ा की चञ्चलता में साड़ी खिसक जाती। भूमि पर लटक जाती, वेंणी शिथिल हो जाती। उसमें खुँसी हुई मल्लिका माला लटक कर हिल जाती, तो वह मनोहर बायें कर कमल से उसे सँभालती जाती और दूसरे से गेंद को भी उछालती जाती। वह कंदुक क्या उछाल रही थी मानों विश्व को विमोहित करने के लिये सब के मन को उछाल उछालकर

अपनी ओर बुला रही थी। वह क्रीड़ा के आवेग में हँस जाती, कभी उनकी चेष्टा चंचल हो जाती, कभी कंदुक के ऊपर क्रोध की मुद्रा दिखाती। श्रम के कारण मुख कमल पर स्वेद विन्दु झलक रहे थे। कभी-कभी वह ऊपर को दृष्टि किये ही उन्हें वस्त्र से पौंछ डालती और कुछ काल में वे फिर उदित हो जाते। वह क्रीड़ा में तन्मय होकर अपनी रूप सुधा को उस उपवन में विखेर रही थी। मानों उसके लिये कंदुक के अतिरिक्त संसार में और कुछ है ही नहीं।

शिवजी ने उस कंदुक क्रीड़ा करती हुई कामिनि को देखा। अब वे उस बात को तो भूल गये, कि भगवान् मुझे मोहिनी रूप में दर्शन देकर मेरी इच्छा पूर्ति कर रहे हैं। वे सोचने यह लगे कि यह ऐसी सुन्दरी अकेली स्त्री यहाँ क्रीड़ा क्यों कर रही है, कौन है यह।" शिवजी एकटक भाव से उसे ही देख रहे थे और उसी के सम्बन्ध की बातें सोच रहे थे, इतने में ही वह साकार सौन्दर्य की मूर्ति शिवजी की ही ओर अपनी गेंद को उछालने लगी। कन्दुक क्रीड़ा के मध्य में वह सलज्ज स्फुट मुसकान युक्त कटाक्ष वाण शिवजी को लक्ष करके छोड़ती जाती थी और बड़ी चातुरी से उनके हाव भावों को भी पढ़ती जाती थी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! किसी को देखकर चित्त में चंचलता हो, तो उधर से बलात् दृष्टि हटा लेनी चाहिये। किसी ऐसे अत्यन्त आवश्यक काम में चित्त को फँसा देना चाहिये कि वे विचार मन से हट जायँ। किन्तु जब चित्त को कोई चोरी कर लेता है, तो इच्छा न रहने पर भी दृष्टि उधर से हटाई नहीं जा सकती लाख प्रयत्न करने पर भी मन अन्य किसी काम में लगता नहीं। हृदय पटल पर उसी चित्तचोर की मूर्ति नाचती

रहती है; चित्त के लिये चिन्तन करने का अन्य कोई विषय नहीं रह जाता। बार-बार निहारने से उत्सुकता और बढ़ती है, तन्मयता गहरी होती है, विवेक नष्ट हो जाता है, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं रहता, लोक-लाज छोड़कर चली जाती है, कुल कानि कहीं भाग जाती है। द्वैत को मिटाने के लिये व्यग्रता बढ़ती है, उसे प्राप्त करने, उसे अपने में मिला लेने की इच्छा बलवती हो जाती है और इन्द्रियाँ बलपूर्वक बिना कहे हठात् उधर ही दौड़ने लगती हैं। इन्हीं सब क्रीड़ाओं का प्रदर्शन कैलाश पति प्रभु कर रहे थे। लौकिकी गति का नाट्य दिखा रहे थे।

अब चन्द्रशेखर के चित्त को उस चारु हासिनी चंचला ने चुरा लिया। वह लोक मर्यादा कुलकानि शील संकोच के बन्धन को तुड़ाकर स्वच्छन्द विहार करने को उद्विग्न हो उठा। पास में पार्वतीजी बैठी हैं, वे क्या सोचेंगीं। मैं उन्हें क्या कहकर लाया हूँ! ये मेरे नन्दी भृङ्गी आदि गण हैं, ये क्या कहेंगे, इन सब बातों को वृषभध्वज भूल गये। वे तन्मय होकर एकाग्र भाव से उस कन्दुक के पीछे कुदकने वाली कामिनी के अतिरिक्त किसी को भी नहीं देखते थे।

एक बार जब उस रमणीरत्न के कर कमलों से उछाली हुई गेंद दूर चली गई, तब तो वह उसे लपकने वेग के साथ दौड़ी। उसी झोंके में उसकी अति झीनी साड़ी अंगों से खिसक गई। वह क्रीड़ा का भाव दिखाती, बार-बार शिवजी की ओर तिरछी चितवन से निहारती, अनुराग युक्त कटाक्षपात करती दौड़ रही थी। नेत्रों ने नेत्रों का भाव पहिचाना। अनुरक्त हुए पार्वतीपति ने जब जाना कि यह भी मेरे ऊपर अनुरक्त है और मुझे स्नेह भरी दृष्टि से, प्रेम भरी चितवन से पुनः पुनः निहार रही है। तब तो उनका विवेक उन्हें छोड़कर लज्जा से

छिप गया। उसके छिपते ही शिवजी उस सुन्दर कटाक्ष वाली

दर्शनीया तथा मनोहारिणी मोहिनी के पीछे चल दिये। पार्वती

जी ने बहुत रोका—"कहाँ जाते हो, ठहरो ठहरो"। गणों ने विनय की। नन्दी बार बार बम्ब बम्ब करके चिल्लाने लगे, किन्तु बम्भोले तो उसके रूपजाल में फँस चुके थे, उन्हें अब रोकने की सामर्थ्य किसमें थी। लज्जा डर कर भाग गई, विनय दूर खड़ी हो गई, शील संकोच दोनों ही खिसक गये। केवल काम ने साथ दिया और अशरीरी अनंग शिवजी के आगे आगे गुप्त रूप से चल रहा था।

अपनी ओर त्रिलोचन शिव को आते देख, वह क्रीड़ा प्रिया कामिनी कन्दुक को छोड़कर अनावृत होने के कारण सकुचाती, लजाती, व्रीड़ा का भाव दिखाती, अंगों को अपने आप में ही छिपाती सी, अपने हाव भावों से भवानीशंकर को लुभाती, मद-माती, हँसती हुई वहाँ से आगे बढ़ गई। वह द्रुतगति से वृक्षों के झुरमुट में छिपने के लिये प्रयत्न करने लगी। जैसे अंधेरे में कोई विद्युत् पुनः पुनः प्रकाश दिखाकर मार्ग को बताती हो, वैसे ही वह बीच बीच में अनुराग भरे कटाक्ष बाणों को छोड़ती हुई शिवजी को अपनी ही ओर आने के लिये अधिकाधिक आक-र्षित करती। वह छिपती थी, प्रकट होने के लिये। वह दूर हटती थी, मिलने के लिये वह लज्जा दिखा रही थी, निर्लज्जता प्रकट करने के लिये वह करना कुछ और चाहती थी, प्रदर्शन कुछ और ही कर रही थी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिन्हें विवेक छोड़-कर चला जाता है, वे इन स्वच्छन्दचारिणी कामिनियों के भावों को समझ न सकने के कारण फँस जाते हैं, लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। शिवजी का पथ प्रदर्शक तो उस समय रतिपति अनंग था, अतः उसी के वशीभूत होकर वे उस कामिनी के पीछे

उसी भाँति दौड़ रहे थे जैसे मदोन्मत करीन्द्र करिणी के पीछे दौड़ रहा हो।

छप्पय

पग युग अटपट परत उदर कृश नमत निरन्तर।
कंदुक श्रमतैं स्वेद बिन्दुयुत मुख अति सुन्दर॥
अलकनि पलकनि और कपोलनि की झलकनिपै।
छुटकि सरसता रही भामिनी के अंगनिपै॥
तिरछी चितवनते लखे, भूलि अपनपौ शिव गये।
छाँड़ि शील सङ्कोच सब, मृगनयनीसँग चलि दये॥

महादेव और मोहिनी सम्मिलन

(२४३)

सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम् ।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥*

(श्री० भा० ८ स्क० १२ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

आवत देखे शम्भु चली द्रुत गति मुसकावति ।
सकुचि सहमि हँसि चलय मनहुँ मग रस बरसावति ॥
गीय वृषभ उन्मत्त फिरै करिणी सँग जनु करि ।
खिसके वस्त्र सम्हालि भगै पुनि देखे फिरि फिरि ॥
वैंणी झोटा खाइ जनु, लता चढ़ी नागिनि हिलै ।
हार हृदय को करन हित, हर सोचें कैसें मिलै ॥

हृदय में काम भाव उत्पन्न होने से एक प्रकार की विकलता अधीरता तथा विह्वलता की अनुभूत होती है। चिंतन की

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! शिवजी ने बड़े वेग से उसके पीछे दौड़कर उसकी चोटी पकड़ ली और अनिच्छा प्रकट करती हुई उस अबला को अपनी बाहुओं से पकड़ कर आलिंगन किया ।"

अपेक्षा देखने से वह और बढ़ती है,. देखने की अपेक्षा छूने से छूने की अपेक्षा अंगस्पर्श से। अंगस्पर्श की अपेक्षा सहवास से उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है जो एक बार ऊपर से गिरता है, वह तब तक गिरता ही जाता है, जब तक नीचे न आ जाय। गंगाजी ब्रह्मलोक से गिरी तप, जन तथा महर्लोकादि होती हुई ध्रुव लोक में आई वहाँ से स्वर्ग भुवर्लोक होती हुई शिवजी के मस्तक पर गिरी। मस्तक से गिरकर कैलाश पर, फिर हिमालय पर। तदनन्तर पृथिवी पर और पृथिवी से भी बहती बहती समुद्र में जाकर खारी हो गई इसीलिये मनीषियों ने कहा है, जो विवेक को खो देते हैं फिर वे उत्तरोत्तर खिसकते ही जाते हैं।

शिवजी भगवान् की मोहिनी माया चक्कर में ऐसे फँसे कि वे पार्वती जी को अपने गणों को सर्वथा भूलकर उस कपट-कामिनी के पीछे दौड़े। उसकी बँधी हुई वैणी निरन्तर हिल रही थी, सदाशिव उसकी ओर अपना हाथ बढ़ा रहे थे। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों कंकण के स्थान पर जो शिव जी ने काले सर्पों को लपेटा था, उसमें भूल से कोई नागिनि लिपट गई। वह भाग कर किसी लता पर चढ़ गई। शिवजी उसे पुनः पकड़ने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वायु वेग के कारण लता हिल रही है, सर्पिणी हाथ में नहीं आती।

शिवजी ने सम्पूर्ण बल लगाकर उस मोहिनी भगवती की वैणी पकड़ ली और उसे हाथ में लपेट कर और उसके चन्द्रमा के समान विकसित आनन को बाहुओं से साध कर हृदय प्रदेश में धारण कर लिया। उस समय वृषध्वज के विशाल वक्षःस्थल में वह उत्फुल्ल आनन उसी प्रकार शोभा पा रहा था,

जिस प्रकार शारदीय चन्द्र गगन में शोभा पा रहा हो। कंधे पर यज्ञोपवीत के स्थान पर पड़े तीन सर्पों में मिलकर वह वैणी, ऐसी शोभा दे रही थी, मानों शिव ने एक कृष्णवर्ण की ऊन का मोटा यज्ञोपवीत और धारण कर लिया हो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लीला के आवेश में आप भूल न जायँ। यह माया मोहिनी कोई अन्य नहीं हैं ये त्रिदेवों में से सत्वावतार भगवान् विष्णु ही हैं। आज वे इस बात को अपने भक्तों को प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं, कि शिवजी के हृदय में विष्णु विराजमान हैं, और विष्णु के हृदय में शिव। आज गंगा यमुना की भाँति हर और हरि का सुन्दर सम्मिलन हो रहा था। आज भेदभाव को त्याग कर दोनों ही एक हो रहे थे। शिव को तो अद्वैत प्रिय ही हैं, किन्तु विष्णु को तो द्वैत ही प्रिय हैं उन्हें तो भेद भाव से भजन ही अत्यन्त प्रिय है, अतः मोहिनी रूपधारी हरि ने अनिच्छा प्रकट करते हुए, अपने हास्य युक्त विकसित चन्द्रानन को इधर उधर हिलाते हुए, अङ्गों को खिसकाकर छुड़ाकर भागने का प्रयत्न करने लगीं। उसी मोहिनी माया ने कुछ काल तक तो यों ही अङ्गों को हिलाया पुनः एक झपटा मार कर वे शिवजी से अपने को छुड़ाकर द्रुत गति से भगीं उस समय उनकी शोभा अद्भुत थी। उनके स्थूल नितम्ब परस्पर सटे हुए होने के कारण हिल रहे थे। श्वास प्रश्वास की गति तीव्र थी। शिवजी के पकड़ने से उनके कुटिल केश पाश खुलकर बिथुर गये थे। वायु में उड़ते हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानो फूली हुई लता पर किसी ने रेशम के काले लच्छे पर बाँध दिये हों और वे प्रबल झंझावात से फहरा रहे हों।

यह शिवजी की प्रथम ही पराजय थी। एक बार उन्होंने काम

को परास्त ही नहीं किया था, अपितु उसे क्रोधाग्नि से जला कर भस्म ही कर दिया था। मानों उसी का बदला लेने के लिये अशरीरी काम गुप्त रूप से इन्हें यहाँ ले आया और एक अबला के द्वारा उन्हें हराकर अपना बदला ले लिया। शंकरजी के लिये यह एक अद्‌भुत घटना थी, वे अपने प्राचीन शत्रु कामदेव से पराजित हुए से उन लीला मोहिनी को पुनः पकड़ने के लिये दौड़े। अब तक शिवजी का तेज उर्ध्व व्यापी ही था। लोक में उसे अभिव्यक्त कराने के लिये ही श्रीहरि ने ऐसी लीला रची उनके तेजविन्दु जब इस अवनि पर पड़े तब उसकी शोभा अत्यधिक बढ़ गई। तभी से पृथिवी पर सुवर्ण, चाँदी की खानें हो गईं। पारे की खाने हुईं। शिवजी के प्रसाद से पृथिवी पर परम पावन धातुओं की उत्पत्ति हुई।

आगे आगे मोहिनी भागी जा रही थीं, उनके पीछे शिवजी चले जा रहे थे। नदियों के किनारे, वनों में, उपवनों में, सरिताओं के तट पर पर्वतों के ऊपर जहाँ भी मुनियों के आश्रम थे वहाँ वहाँ मोहिनी भगवान् जाते थे और शिवजी उनका पीछा कर रहे थे। जिन मुनियों ने हरि और हर को अभेद भाव से भजा था, जिन्होंने दोनों में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं माना था, मानों उन सबको दर्शन देने ही दोनों देव दौड़ रहे थे। शिवजी को उनका मन मोहक मोहिनी रूप दिखाई देता था, किन्तु ऋषि मुनि तो उन्हें साक्षात् चतुर्भुज विष्णु के रूप में देखते और अपने इष्ट मानकर दंडवत प्रमाण करते। इस प्रकार वृषभध्वज और विष्णु दोनों ने ही समस्त ऋषियों के स्थानों में स्वयं जा जाकर उन्हें कृतार्थ किया।

इस प्रकार मोहिनी रूप दिखाकर भगवान् ने यह सिद्ध किया कि भगवान् की मोहिनी माया ऐसी प्रबल है, कि इसके चक्कर में

बड़े से बड़े देवाधिदेव भी ... सकते हैं किन्तु जिनके हृदय में श्रीहरि का निरन्तर निवास है, उनको ... श्रीहरि सर्वत्र करते हैं। भगवान् के तो सभी रूप हैं किन्तु किसी रूप की तो दूर से ही दंडवत करनी चाहिये और किसी रूप को हृदय से लगाना चाहिए। मन से सब में अपने इष्ट को ही देखे तो मोह नहीं होता, फिर बन्धन का कोई काम ही नहीं, फिर तो सर्वत्र वे ही मोहक सर्वेश्वर दिखाई देंगे।

छप्पय

बढ़े वेगतैं केश पास पकरे त्रिपुरारी।
लीन्हीं हृदय लगाइ सहम सकुची सुकुमारी॥
हर हिय नभ हरि-बदन इन्दु सम शोभा पावै।
इत ये पुनि पुनि कसैं मोहिनी विवश छुड़ावै॥
बिखरी अलकावलि सुघर, झूमत लागैं अति भली।
बाहुपाशतैं पृथक् ह्वै, तुरत तहाँतैं भगि चलीं॥

इससे आगे की कथा तेईसवें खण्ड में पढ़िये

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

अब तक आप जिस वीर को केवल कौरवों की सेना का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्व—श्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, औदार्यता निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३४५ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल २·७५ दो रुपया पचहत्तर पैसा हैं, शीघ्र मँगाइये।

मतवाली मीरा

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा। उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढंग से आलोचना की है, भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या, प्रेम के निगूढ़ तत्त्व को मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन बेटियों माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते पढ़ते प्रेम में, गद्गद् हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढंग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गयी। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २) दो रुपये मात्र हैं। मीराबाई का जहर का प्याला लिये चित्र बड़ा कला-पूर्ण है।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

महा... कथा ...
अब ... ...
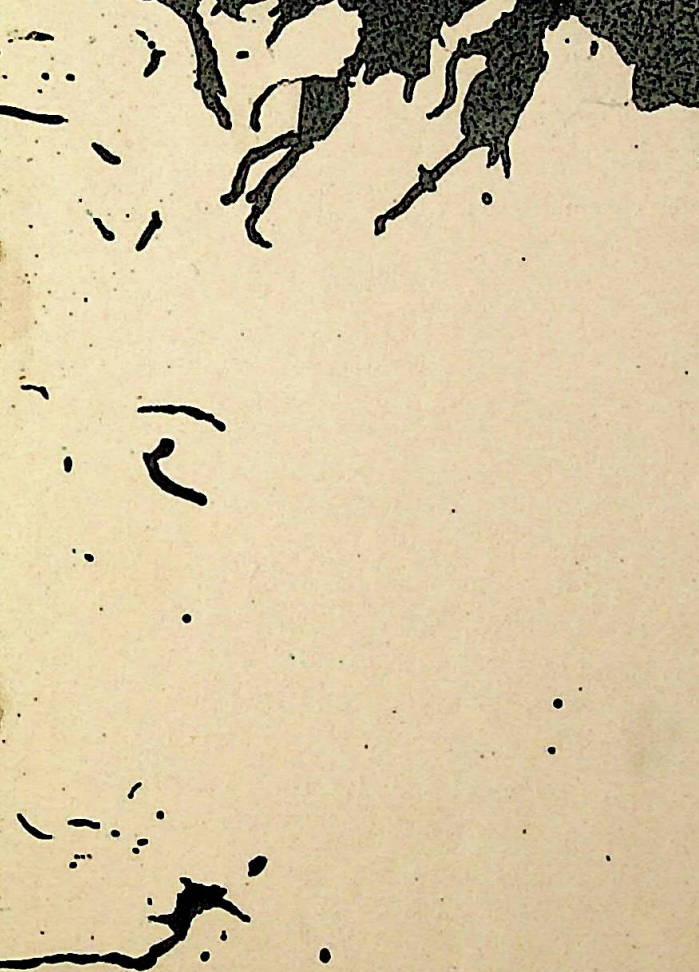
पर

बिहार प्रान्त के शिक्षा सचिव माननीय श्रीबदरीनाथजी वर्मा

की

शुभ सम्मति

परम भगवद्भक्त श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने श्रीभागवत की कथाओं को हिन्दी में 'भागवती कथा' के नाम से प्रकाशित करने का बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रयास प्रारम्भ किया है, जिन्हें मुझे देखने और पढ़ने का सुयोग मिला है। कथायें अत्यन्त रोचक ढङ्ग से लिखी गई हैं और भाषा भी यथासम्भव सरल रखी गई है। इससे जनता को श्रीभागवत के रसास्वादन का अच्छा मौका मिलेगा। इस ग्रन्थ को पढ़ करके अपने भगवत् प्रेम को भी [illegible] कर सकेंगे और अपनी पुरानी संस्कृति का भी ज्ञान प्राप्त कर [illegible] यह पुस्तक बड़ी ही उपादेय और संग्रह करने योग्य है। मुझे आशा है कि पढ़े लिखे लोग इससे पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे और लाभार्थ विद्यालयों के पुस्तकालयों में रखने की चेष्टा करेंगे। श्री ब्रह्मचारीजी का प्रयत्न पूर्ण रूप से सफल हो यह मेरी आन्तरिक कामना और ईश्वर से प्रार्थना है।

बदरीनाथ वर्मा
शिक्षा सचिव बिहार

मुद्रक—भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज इलाहाबाद